ISSN: 0971-8478

अगस्त 2023

# आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक

## रामदरश मिश्र पर विशेष

AUGUST_2023 Folder.indd 57 7/28/2023 1:36:22 PM

# भारत 2023




**भारत के प्रांतों, केंद्रशासित प्रदेशों,
भारत सरकार के मंत्रालयों और विभागों तथा
नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की
आधिकारिक जानकारी देने वाला
वार्षिक संदर्भ ग्रंथ**

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :
फोन : 011-24367260
ई-मेल : bussiness.wng@gmail.com
इसकी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए
कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में मिलेंगी

@publicationsdivision @PIB_India @pib_india

# आजकल

स्थापित 1945

**अगस्त, 2023**

श्रावण-भाद्रपद : 1945

वर्ष : 79 / अंक : 4
पृष्ठ : 56 / पूर्णांक : 936





# इस अंक में


## रामदरश मिश्र पर विशेष

6 संवेदना की गहरी थाप लगाते उपन्यास — प्रकाश मनु

11 शहरी साँसों में खेतों की साँस का रचनाधर्मी — प्रेम जनमेजय

14 रामदरश मिश्र की प्रकृति-कविताएँ — वेद मित्र शुक्ल

18 जीवन लय पर थिरकता प्रकृति राग — सविता मिश्र

20 सारस्वत पथ के शलाका पुरुष — किरन झा

24 कविता चित्त के द्वार को खोलती है (रामदरश मिश्र से ओम निश्चल की बातचीत) — ओम निश्चल

27 प्रारब्ध कर्मों का शुभ फल हैं मेरे पिता — स्मिता मिश्र

29 ग़ज़लें — रामदरश मिश्र

## कहानी

31 एक टुकड़ा ज़िन्दगी — जितेन ठाकुर

## जन्मदिवस पर विशेष

33 कथा-साहित्य में उखड़े हुए लोगों का दर्द — शशिकला त्रिपाठी

## शताब्दी वर्ष

36 कबीर और मार्क ट्वेन थे परसाई — अरविन्द कुमार

39 जीना यहाँ ... मरना यहाँ ! — योगेन्द्र दत्त शर्मा

## श्रद्धांजलि

43 शारदा : मैं चली आकाश... — राजीव श्रीवास्तव

## इस माह-75 वर्ष पूर्व

44 हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना का प्रारम्भ — कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा

## आज़ादी का अमृत महोत्सव

48 क्रान्ति की मशाल — रविचन्द्र गुप्ता

## संगीत आजकल

50 छोटी-छोटी संगीत गोष्ठियों का दौर — पं. विजयशंकर मिश्र

## मूल्यांकन

52 सामाजिक सरोकार की कविताएँ — संजीव ठाकुर

## पुस्तक परिचय

54 काला पानी — ममता रानी



मुख्य सम्पादक : कुलश्रेष्ठ कमल
सम्पादक : फरहत परवीन
सम्पादन सहयोग : शुभ्रा सिंह
प्रथम आवरण चित्र : स्मिता मिश्र के सौजन्य से
आवरण सज्जा : बिन्दु वर्मा / रेखाचित्र : जय गोपाल

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार
सम्पादक : आजकल प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 601डी, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 दूरभाष : 011-24362915
संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : डी.के.सी. हृदयनाथ

सदस्यता शुल्क : वार्षिक : 230 रुपये (सामान्य डाक से)
434 रुपये (रजिस्टर्ड डाक से)
पत्रिका न मिलने की शिकायत अथवा आजकल की सदस्यता लेने या पुराने अंक मँगाने के लिए pdjucir@gmail.com पर ईमेल करें या सम्पर्क करें- दूरभाष : 011-24367453

सदस्यता सम्बन्धी पत्राचार का पता :
अभिषेक चतुर्वेदी, सम्पादक (प्रसार), पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 779, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

प्रकाशन विभाग के देशभर में स्थित विक्रय केन्द्रों की सूची के लिए देखें पृ.सं. 4

ajkalhindi@gmail.com www.publicationsdivision.nic.in www.facebook.com/publicationsdivision @DPD_India @dpd_india





AUGUST_2023 Folder.indd 3 7/28/2023 1:36:09 PM

# पत्र




## संग्रहणीय अंक

जून, 2023 का अंक मिला। हर बार की तरह, इस बार भी 'प्रसंगवश' सर्वप्रथम पढ़ा। 'पर्यावरण' और 'योग' पर केन्द्रित बहुत अच्छा लगा।

'हिन्दी कथा साहित्य में आँचलिकता' (राजेन्द्र कुमार सेन) और 'कबीर साहित्य में राम' (अजय कुमार) के लेख अच्छे और पठनीय हैं। कविवर बाबा नागार्जुन के जन्मदिवस पर सुरेन्द्र अग्निहोत्री का विशेष लेख 'कवि नागार्जुन-बनावटी जीवन के विद्रोही' बड़ा समसामयिक है। योग दिवस पर धर्मसिंह महीडा का लेख 'योग का दार्शनिक पक्ष' उत्कृष्ट है।

इस बार के अंक में देवेन्द्र मेवाड़ी से वैद्यनाथ झा का साक्षात्कार 'मैं साहित्य की क़लम से विज्ञान लिखता हूँ' बहुत सुन्दर है। वास्तव में मेवाड़ीजी ने अपनी कविताओं के माध्यम से विज्ञान जैसे नीरस विषय को सरस बना दिया है। इस विषय पर उनके अनेक लेख, पुस्तकें और बच्चों के बीच जाकर विज्ञान कथा सुनाना, विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के उपक्रम हैं।

अंक की सभी कहानियाँ और कविताएँ उत्कृष्ट हैं। 'मूल्यांकन' के अंतर्गत तीनों ही पुस्तकों की समीक्षाएँ उत्कृष्ट हैं। यह अंक अति महत्वपूर्ण और संग्रहणीय है।

*-रमेश चन्द्र शुक्ल*
*ऋषिनगर, शुक्लागंज, ज़िला उन्नाव*
*(उत्तर प्रदेश)*

## लेखकों और कवियों को बधाई

जून, 2023 अंक देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 56 पृष्ठ की यह पत्रिका बहुत खूब है। इसका हर अंक अच्छे से अच्छा होता है। हमारी शुभकामनाएँ इसके साथ हैं। इसका 'प्रसंगवश' निस्संदेह पढ़ने योग्य होता है। मैं इस अंक के सभी लेखकों और कवियों को दिल से बधाई व्यक्त करता हूँ।

*-शकील सासरामी*
*पटना*

## सर्जनात्मक मूल्यांकन

जून, 2023 अंक पढ़ा। पर्यावरण पर केन्द्रित सम्पादकीय आज के सन्दर्भों में प्रासंगिक है। पतंजलि का 'योगसूत्र' तो बहुत पहले से था, अब 'योग दिवस' के रूप में जनसाधारण से इसे जोड़ने का प्रयास सार्थक है। 'कबीर साहित्य में राम' की अवधारणा सार्थक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो कबीर को अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्थान नहीं देते, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के मूल्यवान प्रतिमानों को स्थापित किया। टैगोर ने कबीर के दोहों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। नागार्जुन का मूल्यांकन सर्जनात्मक है। पूरा जीवन उनका बहुत संघर्षमय रहा। सुरेश सलिल पर संस्मरण ईमानदारी से लिखा गया है। 'अँधेरे में पिता की आवाज़' की समीक्षा अच्छी है। पिता पर लिखी मेरी कविता को 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्थान मिला है। कविताएँ, कहानियाँ, लेख सभी पठनीय हैं।

*-विवेक सत्यांशु*
*अल्लापुर, इलाहाबाद*

## मन आनंदित हुआ

जून, 2023 अंक पढ़ा। 'प्रसंगवश' में महत्वपूर्ण पंक्तियाँ उकेरते हुए प्रकृति के निकटता की ओर इशारा किया गया है जिससे स्वस्थ जीवन और स्वस्थ मन की शुद्धता बनी रहे। इस सन्दर्भ में जीवन के संतुलन और सामंजस्य के लिए योग के प्रति भी संचेतना जगाई गई है।

राजेन्द्र कुमार सेन का लेख 'हिन्दी साहित्य में आँचलिकता' से जुड़ा लेख गहन अध्ययन की बारीकी प्रस्तुत करने में समर्थ है। अजय कुमार ने 'कबीर साहित्य में राम' की सुन्दर व्याख्या की है। सुरेन्द्र अग्निहोत्री का कवि नागार्जुन के जन्मदिवस पर लिखा लेख मनभावन है। सचमुच उनकी रचनाओं में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की अनुगूँज है। राधेश्याम तिवारी के दिवंगत आत्मा सुरेश सलिल पर लिखा गया संस्मरणात्मक लेख ने दिल पर दस्तक दिया है। राजेन्द्र शर्मा द्वारा रंगकर्मी जलबाला वैद्य के निधन पर लिखे गए लेख से इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशेष जानकारी मिली। देवेन्द्र मेवाड़ी से वैद्यनाथ झा द्वारा लिया गया साक्षात्कार विज्ञान-लेखन का अरमान जगाता है।

साहित्य और सिनेमा से जुड़े रचनात्मक सोच के धनी ललित मोहन जोशी की नवीनतम फ़िल्म 'अंगवाल' पर अच्छी जानकारी मिली। यह भी जाना कि 'अंगवाल' कुमाऊँनी काव्य का एक बिम्ब है। इसमें कुमाऊँनी काव्य के पिछले 200 वर्षों का आंकलन, शोध और इतिहास है। सच तो यह है कि आज सिनेमा के माध्यम से गरिमामय साहित्य के दायरे को बढ़ाया जाए। जनमानस में संचेतना जगाई जाए।

क़लम के कारीगर रामावतार शर्मा की कहानी 'मरुस्थल का माली' भी पढ़ने में सुख कर लगी। प्रकाश मनु की 'सुबह ए बनारस' कविता उनके कविता रचाव का सुखद प्रमाण है। अन्य कविताएँ 'नदी' और 'माँ' भी बेहतरीन प्रस्तुति है। ग़ज़लों ने भी मन को आनन्दित किया। अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी साहित्य में गहरी पैठ रखनेवाली कवयित्री तरुदत्त पर महीन पहलुओं की जानकारी मिली। लेख पढ़ते समय उनकी रचना 'सावित्री' की याद आती है। प्रतापसिंह बिष्ट द्वारा लिखित 'गोपबन्धु दास' के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अनूठी जानकारी मिली जिससे मैं अनभिज्ञ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से जुड़ा मूल्यांकन विशेष ज्ञानवर्धक लगा।

*-वेद प्रकाश पाण्डेय*
*वाराणसी*

**भूल-सुधार**

'आजकल' के जुलाई 2023 अंक में पृष्ठ 39 पर प्रताप सहगल जी की कविता के साथ विनोद शाही जी का चित्र लग गया था, जिसका हमें खेद है।

**हमारे विक्रय केन्द्र : नई दिल्ली :** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ :** हॉल नं.1, दूसरी मंजिल, केन्द्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता :** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना :** बिहार : रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुम्बई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंज़िल, केन्द्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरु :** एफ़ विंग, केन्द्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **अहमदाबाद :** 4-सी, नेपच्यून टॉवर (एच.पी. पेट्रोल पम्प के निकट), नेहरू ब्रिज कॉर्नर, आश्रम रोड, दूरभाष : 079-26588669, **हैदराबाद :** कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादिगुडा-500080, **चेन्नई :** राजाजी भवन, एनी बेसेन्ट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनन्तपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650



AUGUST_2023 Folder.indd 4 7/28/2023 1:36:10 PM

# प्रसंगवश

अगस्त माह सदैव ही प्रत्येक भारतीय के दिल में विशेष स्थान रखता है। पिछले वर्ष ही यानी 15 अगस्त 2022 को देश ने आज़ादी की 75वीं वर्षगाँठ मनाई और 'अमृतकाल' में प्रवेश किया। 2022 से सन् 2047 तक देश की स्वतन्त्रता के शताब्दी वर्ष तक, इन 25 वर्षों के अमृतकाल में प्रत्येक भारतीय को अपने कर्त्तव्य पथ पर चलते हुए राष्ट्र को नई ऊँचाइयों तक ले जाने के संकल्प के साथ आगे बढ़ना है। साथ ही इस माह की 15 तारीख़ को 77 वें स्वतन्त्रता दिवस पर स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जान गँवाने वाले उन अनगिनत गुमनाम आज़ादी के सेनानियों को नम आँखों से स्मरण करते हुए शत-शत नमन!

स्वाधीनता आंदोलन की परम्पराओं, मूल्यों की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति हुई है। स्वतन्त्रता आंदोलन में साहित्य और साहित्यकारों का विशेष योगदान रहा है। जन-जन में आज़ादी का अलख जगाने में, राष्ट्रीय एकता को मज़बूत करने में साहित्य रचनाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। लोगों में स्वाधीनता के बीज बोए हैं। हमारा साहित्य राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।

15 अगस्त 1924 को जन्मे विख्यात साहित्यकार रामदरश मिश्र इसी माह जन्मशताब्दी वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। अपनी रचनाधर्मिता को आज भी क़ायम रखते हुए रामदरश मिश्र ने राष्ट्रीय चेतना, मानवीय संवेदनशीलता, सामाजिकता जैसे विषय को अपनी रचनाओं का मूल आधार बनाया। प्रतिष्ठित साहित्य आकादेमी पुरस्कार, व्यास सम्मान, सरस्वती सम्मान सहित कई अन्य प्रमुख पुरस्कारों से सम्मानित श्री मिश्र ने हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी विधाओं—कहानी, ग़ज़ल, उपन्यास, आलोचना, संस्मरण, डायरी, यात्रा-वृत्तान्त आदि में अपनी लेखनी द्वारा अमिट छाप छोड़ी है। कवि-हृदय लेखक रामदरश मिश्र वाद-विवाद से कोसों दूर रहे हैं। उनका रचनात्मक जीवन साहित्यिक जगत के लिए प्रेरणादायी है तभी तो उनके रचना-कर्म पर सैकड़ों शोध-कार्य हुए हैं। उनके लेखन में जहाँ ऋतुओं का, फ़सलों का उल्लास झलकता है, वहीं गाँव-देहात और महानगरों का यथार्थ भी दृष्टिगोचर होता है। रामदरश मिश्र के उपन्यास भारतीय जनमानस की धड़कनों की थाह लेने में समर्थ हैं। संवेदना और सर्जना एवं वस्तुस्थिति का अनुठा मेल रामदरशजी की रचनाओं का मूल है और उपादेय भी। 'आजकल' ने उनकी साहित्यिक यात्रा पर विशेष सामग्री प्रस्तुत की है।

इसी माह सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार स्वर्गीय हरिशंकर परसाई का जन्मशताब्दी वर्ष भी शुरू हो रहा है। हरिशंकर परसाई अपनी बात सीधे-सीधे रखते थे, फिर वो कितनी भी तीखी अथवा मारक क्यों न हो! जबलपुर विश्वविद्यालय से मानद डि.लिट्. से सम्मानित तथा भारतीय साहित्य के 'मार्क ट्वेन' हरिशंकर परसाई के व्यंग्य अक्सर समाज की कुत्सित विभत्सता के दर्पण भी बन जाते थे।

लोकप्रिय कवि, गीतकार और फ़िल्म निर्माता शैलेन्द्र का जन्मशती वर्ष भी इसी माह समाप्त हो रहा है। शैलेन्द्र के गीतों में आम आदमी की आवाज़ थी। उनकी सीधी और सरल, सहज शैली ने हिन्दी गीतों में भावनात्मक अभिव्यक्ति को नई पहचान दी।

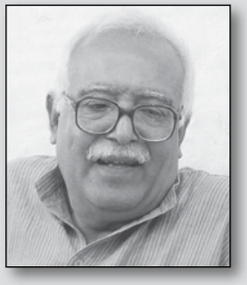
हिन्दी साहित्य के इन महान सर्जकों को लेखों के माध्यम से सम्मानित करने का एक लघु प्रयास इस अंक में किया गया है।



AUGUST_2023 Folder.indd 5 7/28/2023 1:36:10 PM

# संवेदना की गहरी थाप लगाते उपन्यास

**रामदरशजी के पहले उपन्यास 'पानी के प्राचीर' का समर्पण वाक्य है, 'युगों से राप्ती नदी के प्रकोप और अपने अभावों के असूझ अंधकार से जीवट के साथ जूझती हुई जनता को!' और राप्ती नदी अपने कोमल और कठोर दोनों रूपों में 'पानी के प्राचीर' के इस छोर से उस छोर तक फैली हुई है। ठीक वैसे ही जैसे वह 'जल टूटता हुआ' के इस छोर से उस छोर तक फैली है—और उपन्यासकार के मन के साथ-साथ पूरे उपन्यास में इस क़दर सदेह और साकार होकर बह रही है कि लगता है कि यह कोई नदी नहीं, एक अनंत जल-प्रवाह है जिसकी एक-एक लहर में लोगों, चेहरों और चरित्रों की अनंत हलचलें, दुख-दर्द, आँसू और सपने समाए हुए हैं।**



**प्रकाश मनु**

*ई-मेल : prakashmanu333@gmail.com*

हिन्दी में उपन्यास तो बहुत लिखे गए, पर जिन उपन्यासों से भारतीय समाज के सुख-दुख की इबारत और धड़कनों को जाना जा सकता है, और जिन्होंने भारतीय समाज के ताने-बाने को बहुत गहराई तक प्रभावित किया, उनमें रामदरश मिश्र के उपन्यासों का स्थान और क़द बहुत ऊँचा है।

रामदरशजी प्रेमचन्द के बाद के उन गिने-चुने उपन्यासकारों में से हैं, जिन्होंने इतने बड़े काल फलक पर उपन्यास लिखे कि उनके उपन्यास देखते-ही-देखते भारतीय समाज का आईना बन गए। 'पानी के प्राचीर' हो, 'जल टूटता हुआ' या 'अपने लोग'—ये उपन्यास इतनी बड़ी सर्जनात्मक ऊष्मा और संवेदना को लेकर चले हैं, और उनमें वर्णित घटनाएँ और पात्र इतने पुरअसर हैं, कि उनके ज़रिए बड़े प्रामाणिक तौर पर भारतीय समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है बल्कि सच तो यह है कि रामदरशजी ने अपने उपन्यासों में आम जनता के सुख-दुख, भीतरी द्वन्द्व और तकलीफ़ों के इतने सच्चे विवरण प्रस्तुत किए हैं, कि उनकी इन औपन्यासिक कृतियों ने भारतीय समाज को गहराई तक प्रभावित करने के साथ-साथ, एक सकारात्मक परिवर्तन के लिए भी तैयार करने का काम किया और यहाँ बेशक रामदरशजी प्रेमचन्द के बाद, उनकी परम्परा को बड़े ही सार्थक ढंग से आगे बढ़ाते नज़र आते हैं।

लेकिन रामदरशजी के उपन्यास अपने समकालीनों से किस क़दर भिन्न हैं, और प्रेमचन्द की तरह ही वे अपनी सादगी के सौन्दर्य और संवेदना की कितनी गहरी थाप दिलों पर लगाते हैं, यह जानना हो तो एक बुनियादी सवाल ख़ुद से पूछना चाहिए कि रामदरशजी का कोई उपन्यास पढ़कर सबसे पहली बात मन पर क्या नक्श होती है? इसी के साथ रामदरशजी के उपन्यासों की शक्ति और सर्जनात्मक सौन्दर्य दोनों एकाएक सामने आ जाते हैं।

शायद यही कारण है कि रामदरशजी का हर उपन्यास पढ़ने के बाद लगता है कि मैं उपन्यास नहीं पढ़ रहा, बल्कि ज़िन्दगी को देख रहा हूँ। ज़िन्दगी के बीच पूरी तरह धँसकर ज़िन्दगी को देख रहा हूँ। ज़िन्दगी जो बहुत सीधी-सादी है, प्रेममयी है, मोह और सम्मोहन जगाने वाली है और अपने खुरदरेपन के बावजूद एक कमाल की दिलकश और ख़ूबसूरत शै है। उसके सीधे-सादेपन और ख़ूबसूरती में जीवन की बेहद संवेदनात्मक परतों के साथ ही समाज की ऐसी-ऐसी कठोर सच्चाइयाँ, ऐसे-ऐसे करुण सत्य, और साथ ही यथार्थ की स्याह परछाइयाँ छिपी पड़ी हैं कि उनका सामना होते ही हम थरथरा उठते हैं कि अच्छा, यह सब भी है, यह सब क्यों है...यह सब तो नहीं होना चाहिए! पर वह होता है और इतने सपाट, करुण और हृदयविदारक रूप में सामने आता है कि थोड़ी देर के लिए हम स्तब्ध रह जाते हैं और लगता है, अगर ज़िन्दगी इसी का नाम है तो फिर यह क्यों है और इसे हम क्यों जीते हैं?

मगर फिर...? हमारे देखते-ही-देखते उपन्यास के बेहद मामूली पात्रों में ही हलचल होती है। बड़ी तेज़ हलचल, और इसके साथ ही कोई अचानक उठ खड़ा होता है और इन दुखों का



AUGUST_2023 Folder.indd 6 7/28/2023 1:36:11 PM

चक्का आगे बढ़कर थाम लेता है और उसे दूसरी दिशा में चला देता है! कभी नैतिक मूल्यों को लेकर चलने वाला कोई शख़्स, तो कभी प्रकृति जो बड़ी ही जीवन्त शक्लों में इन उपन्यासों में उपस्थित है—और कभी-कभी तो विशुद्ध संयोग! और फिर एकाएक पट-परिवर्तन!...

अचानक कहीं से बाँसुरी की धुन उठती है और दग्ध मन को सरसाने लगती है, कहीं होली की फगुनाहट बिखर जाती है, कहीं चैती, कहीं बिदेसिया। प्रकृति का रस और अनंत छवियाँ, अनंत माधुर्य... प्रेम की अद्‌भुत लीलाएँ! मनुष्य के छोटे-बड़े दुखों के बीच पिरोए हुए छोटे-छोटे सुख! और अभी हम इसमें बहते-बहते कुछ आगे निकले ही थे कि अशुभ, अमंगल की काली स्वाह, उत्पाती छायाएँ! कुछ समर्थ, शक्तिशालियों और धन-पशुओं का कपट, अनीति, कुचालें!...पिसती हुई जनता, हबसते हुए लोग!!

और फिर हमारे देखते-देखते यह चमत्कार होता है कि ये सभी एक-दूसरे में गुँथ जाते हैं, जैसे ज़िन्दगी में! और हम देखते हैं कि रामदरशजी के उपन्यासों में जो लोग हैं, जो ज़िन्दगी है, वह लगभग उसी रूप में है या बिल्कुल वैसी ही है, जैसी ज़िन्दगी ख़ुद है, जैसे लोग ख़ुद हैं।

और यहीं, रामदरशजी के उपन्यास, उपन्यास न रहकर 'एक अनंत प्रवाह-युक्त नदी-गाथा' हो जाते हैं—जनगाथा हो जाते हैं और न जाने कब उसकी लहरों में समरस होकर बहते-बहते, जब उपन्यास ख़त्म होने पर हम किनारे आ लगते हैं, तो हमें याद ही नहीं रहता कि अभी-अभी जिस किताब को हम पढ़ रहे थे, वह किताब थी या ज़िन्दगी?...अभी हम 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', और 'अपने लोग' पढ़ रहे थे या रामदरशजी के साथ गोरखपुर अँचल की ओर घूमने निकल गए थे और इतिहास के गलियारों के बीच धँसते चले गए थे? 'दूसरा घर' पढ़ रहे थे या रामदरशजी के साथ गुजरात जा पहुँचे थे, जहाँ डॉ. गौतम अपनी कच्ची और हिलती हुई नौकरी के सहारे एक ओर अपनी छोटी-सी गृहस्थी और दूसरी ओर साहित्य-कर्म और सामाजिक आदर्शों को थामे हुए थे! इसी के साथ-साथ न जाने कब उन विस्थापितों का दर्द जुड़ जाता है जो नौकरियों और काम-धंधे की तलाश में अपने घर से सैकड़ों मील दूर यहाँ आ गए और लगातार अपमान झेलते हुए मर्माहत होते हैं। घर को याद करते हुए 'परदेस' में मैली ज़िन्दगी जीते हैं, पर घर लौट नहीं पाते।

यही बात रामदरशजी के अपेक्षाकृत छोटे उपन्यासों 'रात का सफ़र', 'थकी हुई सुबह', 'बिना दरवाज़े का मकान', 'आकाश की छत', 'सूखता हुआ तालाब', 'बीच का समय', 'बीस बरस', 'बचपन भास्कर का', 'एक बचपन यह भी' और 'एक था कलाकार' के बारे में भी कही जा सकती है कि ये उपन्यास कम, ज़िन्दगी के भीतर उतरकर की गई ज़िन्दगी की यात्राएँ ज़्यादा हैं। इनमें शायद ही कोई उपन्यास हो, जिसके भीतर निजी एकांत का भँवर या अंतर्गुहाओं के गुंजलक हों, जो इधर प्रायः देखने को मिलते हैं। इसके बरक्स वे ज़िन्दगी की धारा का हिस्सा बनकर आते हैं या उसके साथ बहते नज़र आते हैं, इसलिए वे ऐसे नहीं हैं कि उनके कारण आस-पास का कुछ भी दिखना बन्द हो जाए! बल्कि सच पूछिए तो यह अपने सुख-दुख के साथ ही एक-दूसरे के सुख-दुख को महसूस करते हुए आगे बढ़ना है।

अपने बड़े उपन्यासों की तरह अपने छोटे उपन्यासों में भी रामदरशजी कहीं-न-कहीं उपस्थित ज़रूर नज़र आ जाते हैं। 'रात का सफ़र' को पढ़ना तो सच में ही उनके साथ रेलगाड़ी के डिब्बे में बैठकर यात्रा करना है।...रेल के सफ़र में रात कैसे उतरती है, आसपास से उझक-उझककर आती प्रकृति कैसे मोहती है, यहाँ तक कि बीच-बीच में चाय पीने, टुकड़ा-टुकड़ा बातचीत और ऊँघने के दृश्य—यह सारा विवरण बड़ा ही स्वाभाविक है।

'रात का सफ़र' पिता और पुत्री की साथ-साथ रेलयात्रा है। अपने पति को हमेशा के लिए छोड़कर आ रही ऋतु के पिता राकेशजी हालाँकि मजिस्ट्रेट हैं, पर उनमें रामदरशजी के पितापन को देख पाना कोई मुश्किल नहीं है। इसी तरह 'बीस बरस' के कथानायक दामोदरजी एक प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक हैं, पर ग़ौर से देखें तो यहाँ भी रामदरशजी मौजूद हैं। इसका इससे बढ़कर सबूत और क्या हो सकता है कि कथानायक सम्पादक है, पर अपने उपन्यासों का ही ज़्यादा ज़िक्र करता है। असल में रामदरशजी से रामदरशजी की छवि छूटती ही नहीं। वह 'परकाया-प्रवेश' करते हैं तो फ़ौरन पकड़ में आ जाते हैं।

रामदरशजी अपने उपन्यासों में हैं—और उनमें किस हद तक 'आत्मकथा' है कि नहीं है, यह बात छोड़ भी दें तो इतना तो तय है कि वह ज़िन्दगी जिसमें रामदरशजी एक बहुत-बहुत संवेदनशील मगर अदृश्य गाइड की तरह मौजूद हैं, उपन्यास पढ़ते हुए इस क़दर हमारे चारों ओर घिर आती है कि कब हम ख़ुद इसी का एक हिस्सा हो जाते हैं, हमें ख़ुद पता नहीं चलता।

लिहाज़ा उपन्यास पढ़ते हुए कभी हम पात्रों के सुख से भीगते हैं और कभी अचानक आँखें भर आती हैं। रामदरश मिश्र के उपन्यासों को पढ़ने का तरीका भी यही हो सकता है। तटस्थ रहकर आप उन्हें नहीं पढ़ सकते। जीवन के साथ एक गहरी साझेदारी के साथ वे लिखे गए हैं, शायद इसीलिए हमें तुरन्त साझीदार भी बना लेते हैं। इन उपन्यासों से निकलकर गहरी सहानुभूति और उष्णता से भरा हुआ कोई हाथ हमारे कंधे पर आ पड़ता है, जो समझा देता है, रामदरशजी जो कह रहे हैं, उस पर यक़ीन करो, उनके शब्दों पर यक़ीन किए बग़ैर हम रह ही नहीं सकते।...उपन्यास पढ़ते हुए उनके सुख से सुखी, उनके दुख से दुखी हुए बग़ैर रह ही नहीं सकते।

लेकिन हाँ, एक प्रसंग का उल्लेख ज़रूर करूँगा, 'जल टूटता हुआ' में बदमी और कुंजू का प्रेम। यह प्रेम क्या शै है, यह कहाँ से उठकर कहाँ चला गया है और उसकी जड़ें कहाँ तक फैली हुई हैं, जितना-जितना मैं इस बारे में सोचता हूँ हैरान होता जाता हूँ। बदमी और कुंजू के ये रागात्मक प्रसंग पढ़कर मन ही मन रामदरशजी को प्रणाम करने की इच्छा होती है, जिन्हें इस दृष्टि से, कभी ठीक से समझा ही नहीं गया, ऊपर-ऊपर से इन चीज़ों की तारीफ़ भले ही कर ली गई हो। गद्य में लिखी गई कविता क्या हो सकती है, यह आप बदमी और कुंजू के संवाद पढ़कर जानेंगे। और सच पूछिए तो यह हमारी ज़िन्दगी का सर्वश्रेष्ठ गद्य-गीत है।

रामदरशजी के साथ यह जो मिथक जुड़ गया है कि वे एक सीधे-सादे लेखक हैं, और इसके साथ कहीं-न-कहीं एक हलके व्यंग्य या उपेक्षा की ध्वनि भी रहती है कि सीधे-सादे माने यों ही हैं—तो मैं पूरी विनम्रता और पूरी दृढ़ता के साथ यह आग्रह करना चाहता हूँ कि रामदरशजी कम-से-कम उतने सीधे-सादे लेखक नहीं हैं, जितना उन्हें समझ लिया गया है। उनकी सहजता का यह एक ग़लत और अति-सरलीकृत अर्थ होगा, अगर कोई उन्हें 'सीधा-सादा लेखक' कहकर



AUGUST_2023 Folder.indd 7 7/28/2023 1:36:11 PM

हवा में उड़ाना चाहे। रामदरशजी की जड़ें गहरी हैं और उनकी सहज कला का उद्दाम आकर्षण भी। वे जिस तरह पात्रों की बारीक-से-बारीक, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भंगिमाएँ अपने उपन्यासों में ले आते हैं, ठीक वैसे ही अपने उपन्यासों में जीवन को लगभग सम्पूर्णता में दिखा देते हैं। इसकी दाद दिए बग़ैर नहीं रहा जा सकता। अपनी हृदय बेधती बाँसुरी की धुन और विरह गीतों के संग छा जाने वाले कुंजू तिवारी और बदमी का मैंने ऊपर ज़िक्र किया। 'जल टूटता हुआ' ही में देखें तो ऐसे प्रसंग तमाम हैं, जिनमें जीवन का रस-आनंद, भीतरी आकुलता और उल्लास झर-झरकर बह रहा है। शारदा जैसी अति-संवेदनशील लेकिन कुछ-कुछ खिलंदड़ी लड़की और उसको पढ़ाने वाले मास्टर उमाकांत पाठक के प्रेम-प्रसंग में भी यही अनछुई राग-माधुरी है।

ऐसे ही 'अपने लोग' को देखें तो पगले उमेश की जो डायरी है, वह एक बेशकीमती और नायाब चीज़ है। उमेश जैसे अत्यधिक संवेदनशील और प्रतिभावान युवक के साथ हुआ हादसा हमें बुरी तरह स्तब्ध कर देता है और उसकी डायरी के वे पन्ने, जिनमें उसका दर्द बहा चलता है, जिनमें उसके असफल प्रेम की गहरी कचोट है और उसके पागल होने के कुछ प्रकट, कुछ अप्रकट कारण भी, उसके आँसुओं से रुँधी हुई सतरों के बीच मौजूद हैं। पगले उमेश की डायरी के ये भीगे हुए करुण पन्ने ही शायद 'अपने लोग' उपन्यास के सबसे क़ीमती पन्ने हैं, जो बता देते हैं कि उमेश पागल नहीं था। उमेश जैसा आदमी पागल नहीं हो सकता। पागल तो वह दुनिया है जो उसे पागल कहती है और एक मुर्दे की तरह चीज़ों को देखती है, जबकि उमेश एक ज़िन्दा और चोट खाया हुआ आदमी है। वह एक ज़िन्दा आदमी की तरह चीज़ों को देखता है, जीता है, टूटता है, हारता है और आख़िरकार पागल हो जाता है! पर उसके जीवन की मार्मिक संवेदना और सच्चाइयों को आप अनदेखा नहीं कर सकते।

यों रामदरशजी कोई साहित्यिक वादों और फ़ैशनों के लेखक नहीं हैं, कि आज कोई वाद ख़त्म हुआ और कल कोई और कलावादी फ़ैशन चल पड़ा, तो आज उसका परचम लहरा रहे हैं और कल उस वाद के ख़त्म होते ही, उसी झंडे में बाँधकर वे पोथियाँ अलमारी के एक कोने में रख दी गईं—फिर कभी न पढ़ने के लिए। रामदरशजी ऐसे लेखक नहीं हैं। अगर वे कल थोड़े ढीले-ढाले से लेखक थे तो आज भी हैं और उनके ढीले-ढालेपन में कल अगर उस्तादी की बाँकी छटाएँ नज़र आती थीं, तो वैसी ही आज भी नज़र आती हैं और जैसे-जैसे समय बीतेगा, उनकी चमक फीकी पड़ने के बजाए और अधिक हमें लुभाएगी। और फिर जैसे ज़िन्दगी कभी पुरानी नहीं होती, मनुष्य कभी पुराना और बासी नहीं होता, उसका हँसना-रोना-गाना, उसका प्रेम, राग-विचार, उसके भावों का आलोड़न, यहाँ तक कि ग़ुस्सा और नफ़रत भी जैसे कभी बासी नहीं होता, वैसे ही रामदरशजी के उपन्यास हैं और वे उसी तरह खुले-खुले और निर्बंध और सहज बहते हुए उपन्यास हैं जैसे ख़ुद ज़िन्दगी। तो फिर आप उन्हें कैसे बाँधेंगे? किन शब्दों में, किस विशेषण में? सच पूछिए तो आँचलिक या किसी और छोटे-बड़े विशेषण में उन्हें नहीं बाँधा जा सकता, और न ऐसी कोशिश ही करनी चाहिए।

यह दीगर बात है कि उन्हें कभी 'आँचलिक' कह दिया गया, कभी 'ग्रामीण संवेदना का लेखक' कहा गया, कभी 'सचेतन' के खाते में डालने की आधी-अधूरी और कोशिशें हुईं। मगर नहीं, ये सारी कोशिशें फ़िज़ूल साबित हुईं। इसलिए कि वे इस सबसे बड़े हैं और तमाम सीमाओं को बार-बार तोड़कर बाहर निकल आते हैं—जैसे ज़िन्दगी, जैसे मनुष्य।

शायद यही कारण है कि बीसवीं सदी को—उसके अजस्र प्रवाह और उसमें आए आश्चर्यजनक मोड़ और बदलावों को-उसकी तमाम-तमाम शक्लों को जिन बड़े क़द के लेखकों के उपन्यासों से समझा जा सकता है, उनमें प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर, यशपाल, जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रेणु, देवेन्द्र सत्यार्थी, भगवतीचरण वर्मा जैसे बड़े लेखकों के साथ-साथ बेशक रामदरश मिश्र का नाम भी आप ले सकते हैं। निस्संदेह आपको लेना ही होगा। और यहाँ यह भी दर्ज करना ज़रूरी है कि समय के साथ-साथ रामदरश मिश्र के उपन्यासों का महत्व दिनोदिन बढ़ता गया है और बढ़ता जाएगा।

सबसे बढ़कर है रामदरश मिश्र के उपन्यासों की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता। उनके अनुभव एकदम सच्चे और खरे हैं। हो सकता है कि इनमें से कुछ उपन्यासों को—या उपन्यास के कुछ स्थलों को रामदरशजी पूरी तरह गहरा न पाए हों! हो सकता है कि कहीं-कहीं भाषा असमर्थ होकर उनके भावों और विचारों और चिन्ताओं का बोझ पूरी तरह सम्भाल न पा रही हो पर यह तो प्रेमचन्द में भी है। और कुल मिलाकर तो एक बड़े मानवीय धरातल पर चिन्ता और चिन्तन की एक ऐसी उदात्तता और उच्चाशयता उनमें है कि रामदरशजी के उपन्यासों को, फिर चाहे उनके छोटे उपन्यास ही क्यों न हों, हमेशा जीवन की सम्पूर्णता को थाहने की कोशिश करते देख पाएँगे।

रामदरशजी के पहले उपन्यास 'पानी के प्राचीर' का समर्पण वाक्य है, 'युगों से राप्ती नदी के प्रकोप और अपने अभावों के असूझ अंधकार से जीवट के साथ जूझती हुई जनता को!' और राप्ती नदी अपने कोमल और कठोर दोनों रूपों में 'पानी के प्राचीर' के इस छोर से उस छोर तक फैली हुई है। ठीक वैसे ही जैसे वह 'जल टूटता हुआ' के इस छोर से उस छोर तक फैली है—और उपन्यासकार के मन के साथ-साथ पूरे उपन्यास में इस क़दर सदेह और साकार होकर बह रही है कि लगता है कि यह कोई नदी नहीं, एक अनंत जल-प्रवाह है जिसकी एक-एक लहर में लोगों, चेहरों और चरित्रों की अनंत हलचलें, दुख-दर्द, आँसू और सपने समाए हुए हैं।

यही राप्ती नदी रामदरशजी के एक और महत्वाकांक्षी उपन्यास 'अपने लोग' में भी है, जिसकी शुरुआत में ही हमें सूचना मिलती है कि प्रमोद जिस गाड़ी में है वह राप्ती नदी के पुल को धड़ाधड़ पार करती जा रही है...यानी कि गोरखपुर! राप्ती नदी यहाँ भी एक विशाल जल-प्रवाह के रूप में सदेह और मूर्त होती देखी जा सकती है। हालाँकि 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' की तुलना में 'अपने लोग' में उसका आत्मीय परस थोड़ा हलका, या कहें नैकट्य की ऊष्मा थोड़ी कम है।

इसकी एक वजह शायद यह हो सकती है कि 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में हम ग्रामीण जीवन की अधिक सहज और उद्दाम नदी-धारा के बीच बह रहे होते हैं और 'अपने लोग' में इसके बरक्स शहरी जीवन है, शहरी जीवन की तमाम विडम्बनाएँ, कुरूपताएँ और एक अनकहा नरक है, जिसे रामदरशजी अपने शब्दों में समूचा उतार देते हैं!

यह ठीक है कि इस शहरी जीवन पर भी एक क़स्बाई अनौपचारिकता और उन्मुक्तता हावी है जो इसे पूरी तरह सड़ने नहीं देती या क्रूर और अत्याचारी नहीं होने देती...पर 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में ज़िन्दगी के जो सहज छन्द हैं, वे यहाँ तक आते-आते कुछ-कुछ भग्न और बाधित ज़रूर हो जाते हैं। इसी कारण रामदरशजी के शुरुआती दो बड़े उपन्यासों 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' को जिस तरह



AUGUST_2023 Folder.indd 8 7/28/2023 1:36:11 PM

जन-गंगा के 'नदी-पुराण' या 'आख्यान' कहा जा सकता है, उसी तरह 'अपने लोग' को कहने में कदाचित हलका संकोच होता है। वहाँ जन हैं, और ठट्ठ के ठट्ठ जन हैं, पर वे 'जन-गंगा' शायद नहीं हो पाते...या होते भी हैं तो वे एक ऐसी गंगा बनते हैं जो काफ़ी मैली और प्रदूषित हो चुकी है। 'आकाश की छत' में दिल्ली की बाढ़ के सन्दर्भ में गाँव की राप्ती नदी को बार-बार याद किया गया है, पर यहाँ भी 'पानी के प्राचीर' या 'जल टूटता हुआ' जैसी समरसता नहीं है।

यों 'अपने लोग' ज़ाहिर है, 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' की तुलना में प्रकृति से थोड़ा दूर पड़ जाता है। नदी में यहाँ तक आते-आते काफ़ी गन्दगी घुल जाती है। लिहाज़ा 'अपने लोग' में गोरखपुर के बेतियाहाता मुहल्ले का—और याद रखिए, यह गोरखपुर के सबसे ज़्यादा पॉश या अतिकुलीन इलाकों में से है—जैसा वर्णन है, या बेतियाहाता की गन्दगी जिस तरह बजबजाती हुई सामने आती है, वैसा न 'पानी के प्राचीर' में है और 'जल टूटता हुआ' में।

'अपने लोग' असल में रामदरशजी के उपन्यासों में यथार्थवादी धारा का प्रतिनिधत्व करता हुआ उपन्यास है और उनके यथार्थवादी उपन्यासों में यह निर्विवाद रूप से सिरमौर है पर फिर भी अगर हमें यह 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' की ही एक अगली और अधिक यथार्थपरक कड़ी जैसा लगता है, तो इसलिए कि यहाँ भी राप्ती नदी मौजूद है। और जहाँ राप्ती नदी मौजूद है, वहाँ रामदरशजी अपनी सबसे ज़्यादा उमंगों, स्वतःस्फूर्ति एवं ज़िन्दादिली के साथ मौजूद हैं और उनका उपन्यासकार राप्ती नदी के साथ-साथ उछालें मार रहा होता है।

'अपने लोग' में हालाँकि बड़ी विरूप और जुगुप्सा पैदा करने वाली स्थितियाँ तमाम हैं, पर वहाँ नायक के रूप में उपन्यासकार का ग़ुस्सा या क्षोभ ऐसा ही है, जैसाकि अपने लोगों के प्रति उपजता है, जिन्हें आप बेहद-बेहद प्यार करते हैं। रघुवीर सहाय की एक काव्य पंक्ति है, बड़ी ही चर्चित पंक्ति, "एक मेरी मुश्किल है जनता जिस पर मेरा क्रोध बार-बार निछावर होता है!..." आप अगर इस पंक्ति की एक बहुत ही विस्तृत और सजीव व्याख्या देखना चाहते हैं कि अपने क्रोध का अपने ही लोगों पर बार-बार निछावर होना क्या होता है, तो मैं कहूँगा कि आप 'अपने लोग' पढ़िए। नफ़रत और प्यार का ऐसा अजब समीकरण उससे बेहतर शायद कहीं और नहीं मिलेगा, यहाँ तक कि रामदरशजी के शुरुआती उपन्यासों 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में भी नहीं मिलेगा। वहाँ प्यार का पलड़ा ही कुछ भारी है। नफ़रत और प्यार का जो कठिन और कुछ असम्भव-सा लगता हुआ द्वन्द्व 'अपने लोग' में है, वह तो सिर्फ़ 'अपने लोग' में ही आपको मिल सकता है।

और सच तो यह है कि 'अपने लोग' रामदरशजी का एक ऐसा ज़बरदस्त उपन्यास है, जिससे आज के उपन्यास के तमाम रास्ते फूटते हैं। रेणु का 'मैला आँचल' बहुचर्चित उपन्यास है और हो सकता है कि वह किसी मायने में 'अपने लोग' से कहीं बेहतर हो। पर 'अपने लोग' जितना समकालीन यथार्थ के निकट है, उतना 'मैला आँचल' नहीं। यही कारण है कि आज के उपन्यास के तमाम-तमाम रास्ते 'अपने लोग' से फूटते हैं, और यह उसकी एक अतिरिक्त शक्ति या विशेषता तो निश्चय ही कही ही जाएगी।

रामदरशजी के तीन सबसे अच्छे उपन्यास कौन-से हैं? 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'अपने लोग।'...उत्तर तभी से मेरे होंठों पर है, जब मैंने रामदरशजी के समूचे साहित्य की अंतर्यात्रा करते समय, उनके सारे उपन्यास एक साथ पढ़े थे। ये केवल रामदरश मिश्र के ही नहीं, बल्कि हिन्दी वाङ्मय के तीन बड़े और खरे उपन्यास हैं, जिनसे हिन्दी उपन्यास का 'संसार' समृद्ध होता है और उसमें बहुत कुछ नया और 'मूल्यवान' जुड़ता है!

अब रामदरशजी के कुछ और अच्छे, दमदार उपन्यासों की बात की जाए। इनमें ज़ाहिर है, 'दूसरा घर' की विशेष तौर से चर्चा होनी चाहिए। यों भी यह भी रामदरशजी के बड़े और महत्वाकांक्षी उपन्यासों में से है और पढ़ने पर दिल में अपनी तरह की थाप लगता है। कभी कोमल तो कभी थोड़े खुरदरे हाथों से भी। रामदरशजी के लम्बे गुजरात-प्रवास के अनुभव इसमें बड़े सच्चे और प्रामाणिक तौर पर आए हैं। डॉ. गौतम के रूप में रामदरशजी की एक अत्यंत सौम्य छवि इस उपन्यास में है, जो देर तक याद रह जाने वाली है। उनकी नौकरी की अस्थिरता, कच्ची गृहस्थी और इसके साथ-साथ उनकी साहित्यिक महत्वाकांक्षाएँ, सामाजिक और प्राध्यापकीय आदर्श—और इसके बीच में कहीं पिरोई हुई विस्थापितों की एक अकथनीय पीड़ा, जिससे डॉ. गौतम के व्यक्तित्व का एक कोना निरन्तर भीगा ही रहता है।...

'दूसरा घर' में एक आदर्शवादी प्राध्यापक के रूप में डॉ. गौतम के व्यक्तित्व की उथल-पुथल है, शिक्षा क्षेत्र की गन्दगी और घृणित राजनीति है...मगर यह सब होते हुए भी 'दूसरा घर' के केन्द्र में है विस्थापितों का दर्द। पूरब से सैकड़ों मील दूर चलकर काम-धंधे और नौकरियों की तलाश में आए हुए लोग! वे आँखों में कुछ चमकते हुए सपने लेकर अहमदाबाद आए हैं, पर जिस गन्दगी में उन्हें रहना पड़ता है, जो दर्द और अपमान झेलना पड़ता है...जैसी टूटी-बिखरी ज़िन्दगी उन्हें जीनी पड़ती है, उससे उनके सपने टूक-टूक हो जाते हैं।

निश्चित रूप से हिन्दी में विस्थापितों के दर्द पर लिखे गए कुछ गिन-चुने उपन्यासों में 'दूसरा घर' की चर्चा होगी।

रामदरशजी के छोटे उपन्यासों में 'रात का सफ़र', 'बिना दरवाज़े का मकान' और 'थकी हुई सुबह' तीन अलग-अलग कोणों से खींचे गए, स्त्री की वेदना के तीन अलग चित्र हैं। इनमें 'रात का सफ़र' शायद सबसे तीखा उपन्यास है। और सच में यह अँधेरे-घुप्प-अँधेरे में एक स्त्री का सफ़र है। एक ऐसी स्त्री का सफ़र जिसका पति डॉक्टर है, अच्छा कमाता है, सामाजिक तौर से उसमें कोई ऐब भी नज़र नहीं आता। इसलिए कि समाज को दिखाने के लिए उसके पास एक सभ्य, चिकना चेहरा है लेकिन यही सभ्य, चिकना चेहरा अपनी पत्नी ऋतु के साथ छल कर रहा है, और जो प्यार उसकी पत्नी को मिलना चाहिए, वह उसके नर्सिंग होम की एक नर्स के हिस्से चला जाता है। ऋतु की पति को सुधारने की तमाम कोशिशें डॉक्टर और नर्स को और उद्धत बनाती हैं, और अंत में उसके सामने एक ग़लीज़ प्रस्ताव यह आता है कि वह नर्स को भी सहन करे और दोनों डॉक्टर की पत्नी बनकर रहें।

इस 'मर्दवादी' दृष्टिकोण के जवाब में ऋतु का एक चाँटा चटाक से पति के गाल पर पड़ता है, तो वह उसके पति और नर्स को ही नहीं, थोड़ी देर के लिए तो पाठक को भी झनझनाकर रख देता है। इसलिए कि यह सिर्फ़ एक चाँटा नहीं है, यह एक स्त्री का पुरुष-प्रधान समाज के अत्याचार के ख़िलाफ़ पहला विद्रोह है। उपन्यास के शुरू में ही इस चाँटे का ज़िक्र है और पूरी कहानी 'फ़्लैशबैक' में चलती है, पर रामदरशजी की कला का यह जादू ही समझिए, कि यह चाँटा 'चटाक...चटाक...' की शक्ल में पूरे उपन्यास में गूँजता रहता है।

'रात का सफ़र' की ही तरह 'थकी हुई सुबह' भी एक दुस्साहसी उपन्यास है पर इसके दुस्साहसी होने का कारण थोड़ा अलग है। भाषा



AUGUST_2023 Folder.indd 9 7/28/2023 1:36:11 PM

और विन्यास के तौर पर यह एक सीधा-सादा उपन्यास है, पर दुस्साहस कहीं है तो इसके पीछे की दृष्टि या 'विज़न', में। 'थकी हुई सुबह' की शुरुआत इस सूचना के साथ होती है कि उमा जी गुज़र गईं। फिर उमा जी कौन थीं? इस सवाल से होते हुए कथानायिका लक्ष्मी की अपनी ज़िन्दगी के पन्ने खुलने लगते हैं। पूरे उपन्यास में लक्ष्मी की दुख-दाह भरी जीवन-यात्रा और तकलीफ़ों के पन्ने फड़फड़ाते रहते हैं। बीच-बीच में उमाजी की तकलीफ़ भी आती है और इस तरह 'थकी हुई सुबह' एक साथ दो स्त्रियों के शोषण और तकलीफ़ों की गाथा है।

रामदरशजी के एक और छोटे उपन्यास 'बिना दरवाज़े का मकान' में घरों में काम करने वाली स्त्री दीपा के माध्यम से आज की महानगरीय ज़िन्दगी के यथार्थ को देखने की कोशिश है। आम तौर से मध्यवर्गीय आँख से निम्न वर्ग के पात्रों को, उनकी करुणा और असहाय ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव और हाहाकार को देखा जाता रहा है। पर 'बिना दरवाज़े का मकान' में फ्रेम ऑफ़ रेफ़रेंस एकाएक बदल गया है। और दीपा जो यह सब देखती और कहती है, एक बहुत मजबूर एवं असहाय स्त्री है। एक सम्पूर्ण स्त्री होने की इच्छाओं के बावजूद, वह असहाय है। इसलिए कि उसका पति बहादुर जो रिक्शा चलाता था, एक सड़क-दुर्घटना में घायल और लाचार होकर घर पर पड़ा है। उसकी रीढ़ की हड्डी अब बेकार हो चुकी है। उसके घाव सड़ने लगे हैं, एवं उसके लिए ज़िन्दगी में अब कुछ बाक़ी नहीं बचा है। और अपने पति से बहुत-बहुत प्यार करने वाली दीपा...! उसकी ज़िन्दगी? वहाँ भी अब क्या बची है! एक बिना दरवाज़े का मकान ही अब उसकी ज़िन्दगी है, जिस में कभी भी कोई आकर उसे फटकार जाता है। यहाँ तक कि कुत्ते भी टहलते हुए चले जाते हैं, जैसे सड़क और 'बिना दरवाज़े के मकान' में कोई फ़र्क ही न हो।

'बिना दरवाज़े का मकान' में रामदरशजी बग़ैर किसी नारेबाज़ी के बहुत हलके संकेत में यह कह जाते हैं कि समाज में एक हिस्सा जब सड़ रहा होता है, तो दूसरा हिस्सा भी खुशहाल नहीं रह सकता। अलबत्ता, रामदरशजी के छोटे उपन्यासों में भी संवेदना की परतें कितनी गहरी हैं, यह इन उपन्यासों पर एक नज़र डालते ही पता चल जाता है।

कोई दो दशक पहले छपा 'बीस बरस' रामदरशजी के महत्वाकांक्षी उपन्यासों 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' की परम्परा की ही एक कड़ी है। जैसे वह गाँव जो 'जल टूटता हुआ' में छूट गया था, 'बीस बरस' बाद उसका फिर से जायज़ा लिया जा रहा है। ख़ास बात यह है कि इन बीस बरसों में जो कुछ बदला, उसके प्रति रामदरशजी की दृष्टि बड़ी खुली और स्वस्थ है।

यह ठीक है कि गाँव में अब पहले जैसी सरलता, आत्मीयता, राग-रंग और उत्साह नहीं बचा, पहले जैसी परदुखकातरता नहीं बची। त्योहार और शादी-ब्याह के मौक़े पर पूरे गाँव के एक परिवार होने का बोध भी नहीं बचा पर एक अच्छी बात यह है कि पहले की बहुत-सी अशोभन चीज़ें और जो अंधविश्वास थे, वे अब चले गए। अब गाँव में वंदना जैसी स्त्रियाँ हैं जो विधवा होने पर विवाह करती हैं और ख़ुद को स्त्रियों के उत्पीड़न के ख़िलाफ़ लड़ाई में झोंक देती हैं, लेकिन सबसे बड़ा विकार जो गाँव में आया है और रामदरशजी को सबसे अधिक विचलित करता है, वह है गाँव के नवयुवकों द्वारा शहर की अंधी और भौंडी नक़ल तथा आधुनिकता के नाम पर घिनौनी विकृतियाँ।

क्या रूप ले रहा है गाँव...? उपन्यास जैसे रह-रहकर सवाल उठाता है। और फिर आत्मीयता के भीतर छिपा छल, मित्रता की आड़ में चापलूसी...और यह सब देखते हुए 'बीस बरस' के कथानायक दामोदर जी छुट्टियाँ बीच में ही ख़त्म करके, दुखी मन से वापस दिल्ली चले जाते हैं।

'बचपन भास्कर का' में रामदरशजी के बचपन की बड़ी आत्मीय झाँकी है। और न सिर्फ़ उनके बचपन, बल्कि उनके समय में गाँव-देहात में घोर अभावों के बीच पलते हिन्दुस्तानी बचपन की भी बड़ी प्रामाणिक तस्वीर है। ऐसा बचपन जिसने घोर ग़रीबी और दारिद्र्य देखा, फिर भी मस्ती की खिलखिलाहट वहाँ कम न थी। जो लोग रामदरशजी की आत्मकथा पढ़ चुके हैं, वे उनके बचपन की ऐसी रोचक और विस्मयकारी घटनाओं से वाकिफ़ हैं, जिनमें किसी उपन्यास से अधिक रस और आकर्षण है। सच पूछिए तो मुझे वही उनकी आत्मकथा का सबसे सुन्दर और बेजोड़ हिस्सा लगता है। 'बचपन भास्कर का' उपन्यास में वही सब एक अनोखी क़िस्सागोई में ढलकर हमारे सामने आता है, और सच ही बाल पाठकों के साथ-साथ बड़ों को भी विभोर कर देता है।

इसी कालखण्ड में लिखे गए दूसरे उपन्यास 'एक बचपन यह भी' में भी बचपन है। भाभी सरस्वती मिश्रजी का बचपन। जब-जब मैं उनके घर गया हूँ, भाभीजी के सतेज व्यक्तित्व की बड़ी मनोहर छवियाँ मेरे आगे खुलती हैं। रामदरशजी की कविता, डायरी, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और निबन्धों में भी सरस्वतीजी की अनेक छवियाँ हैं, जिन्हें जाने बग़ैर आप रामदरशजी को ठीक-ठीक जान नहीं सकते। दोनों सही मायने में सहचर हैं, हमसफ़र कह लीजिए। इस नाते सरस्वतीजी का बचपन भी रामदरशजी के लिए अपरिचित न रहा होगा। पति-पत्नी के नित्य संवाद में उसके नए-नए अबूझ पन्ने खुलते होंगे। और बहुत सा तो रामदरशजी का ख़ुद अपनी आँखों देखा भी है।...पर उस बचपन का साधारणीकरण करके, रामदरशजी उसे भी एक नए रूप में जीकर, अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से पुनर्नवा कर देंगे, और फिर उसे एक रोचक उपन्यास के रूप में अपने पाठकों के आगे प्रस्तुत कर देंगे, यह कम-से-कम मेरे लिए तो अकल्पनीय ही था। तीसरे उपन्यास 'एक था कलाकार' में रामदरशजी ने असमय गुज़र गए अपने कलाकार बेटे हेमंत को मानो श्रद्धांजलि दिया है।

रामदरशजी जीवन के...जीवन की सम्पूर्णता के कवि, कथाकार और उपन्यासकार हैं। वे एक ऐसे लेखक हैं जो जीवन से कम किसी भी चीज़ के लिए राज़ी हो ही नहीं सकते। और ऐसे ही मनुष्य...! यह मनुष्य ही उनके लिए साहित्य, कला आदि-आदि सारी चीज़ों के लिए कसौटी है। वे चाहे प्रकृति की सुरम्य लीला-भूमि में हों, गाँव में हों या उससे सैकड़ों मील दूर दिल्ली में, उनकी तलाश मनुष्य की होती है।

रामदरशजी के कवि और उपन्यासकार रूप, दोनों ही मुझे प्रिय हैं। और कई बार तो यह लगता है कि रामदरशजी बड़े उपन्यासकार इसलिए हैं क्योंकि वे बड़े कवि हैं। अगर वे बड़े कवि न होते तो वे शायद इतने बड़े उपन्यासकार भी न होते। अलबत्ता, इसमें दो राय नहीं कि रामदरशजी के उपन्यासों ने प्रेमचन्द के बाद भारतीय समाज को इतनी गहराई से प्रभावित किया है, कि समय के साथ उनका महत्व निरन्तर बढ़ता ही जाता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के सच्चे और प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में उन्हें आज से सौ बरस बाद भी खोज-खोजकर पढ़ा जाएगा। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 10 7/28/2023 1:36:11 PM

# शहरी साँसों में
# खेतों की साँस का रचनाधर्मी

**रामदरश मिश्र का जन्म देश की स्वतन्त्रता से पूर्व हुआ है पर उनका जन्मदिन भारत की स्वतन्त्रता का जन्मदिन है। यह दिन रामदरश मिश्र के यहाँ साहित्यिक उत्सव का दिन भी होता है। पिछले अनेक वर्षों से, एकाध वर्ष को छोड़कर, उनके निवास पर, मुझ जैसे उनके अनेक शुभचिन्तक एकत्रित होते हैं। यह मिलन उन्हीं की तरह सादगी और आत्मीयता से भरा रहता है।**



**प्रेम जनमेजय**

*ई-मेल : premjanmejai@gmail.com*

जब भी मैं किसी बड़े व्यक्तित्व, उम्र ही नहीं साहित्यिक क़द में बड़े, पर कुछ संस्मरणात्मक या आलेख लिखने की सोचता हूँ तो परसाई मुझे सावधान करते हैं। परसाई मेरी पाठशाला हैं। मैंने इस पाठशाला में उनको केवल पढ़ा ही नहीं है अपितु उनके लिखे को जीने का प्रयत्न भी किया है। परसाईजी से जब नामवरसिंह ने मुक्तिबोध पर संस्मरण लिखने को कहा था तो परसाई लिखते हैं, "--- बाई दी वे। मुझसे तो नामवर जी ने कुछ संस्मरणात्मक लिखने को कहा है। संस्मरणात्मक कुछ भी लिखने में अपने को बीच में डालना पड़ता है। संस्मरणात्मक की यह मजबूरी है। यह सावधानी बरतते हुए कि उनके बहाने अपने को प्रोजेक्ट न कर दूँ, कुछ चीज़ें लिखता हूँ--- गो सफल संस्मरण का वही गुण है, जिससे मैं बचना चाहता हूँ।" उनके बहाने अपने को प्रोजेक्ट न कर दूँ-- इससे बचने का मेरा प्रयत्न रहता है।' अपने संस्मरण को सफल बनाने के लिए चतुर ज्ञानीजन जानबूझकर असावधानी करते हैं।

परसाई का एक व्यंग्य है 'दूसरों की महिमा ढोने वाले'। वे लिखते हैं, "मैं लोगों को उनकी टोपी बताना चाहता हूँ, पर वे उसके ऊपर डॉक्टर शर्मा की महिमा का टोकना रखते हैं। बहुत लोग हैं, जिनका व्यक्तित्व जब मुँह उघाड़ने लगता है, तो वे किसी की महिमा का कनटोप पहन लेते हैं। मरे की अपेक्षा जीवित की महिमा ढोना कठिन तो है, पर उससे फ़ायदा ज़्यादा होता है। मैंने बहुत साल पहले एक बड़े की महिमा ढोयी थी। मैं उनका बस्ता लेकर चलता था। बस्ते में उनकी महिमा होती थी। मैं उनका चन्दन लादे फिरता था। पहले उनका चन्दन बाज़ार में खूब वन्दन बिकता था। मैं पहुँचते ही हल्का हो जाता और दूसरों को पीठ सुँघाने भाग जाता। साहित्य में थोड़ी प्रतिष्ठा पा गया, तो मुझे ढोने वालों ने आ घेरा और बोले, "दादा, अपनी महिमा कहाँ रहती है? बस्ते में?" मैंने कहा, "एक तो साहित्य में 'दादा' अश्लील शब्द है। फिर हम अपनी महिमा ख़ुद ढोते हैं। अभी इतनी हुई ही नहीं है कि टट्टू रखें।"

हो सकता है कि रामदरशजी पर लिखे इस आलेख को पढ़कर आपको लगे कि मिश्रजी की महिमा का चन्दन लगाकर प्रेम जनमेजय कस्तूरी मृग का भ्रम उत्पन्न पालना चाहता है। ऐसा लगे तो मुझे बुरा नहीं लगेगा क्योंकि अनायास मैं उनकी महिमा का चन्दन लगा रहा हूँ। लोग तो सम्मान और पुरस्कार की चाह में किसी तथाकथित गोबर का लेप लगाते हैं और कस्तूरी मृग होने की नौटंकी करते हैं। मैं तो अपने द्वारा घिसा चन्दन लगा रहा हूँ, किसी व्यापारी-पुजारी के हाथ का नहीं। इस चन्दन में मेरी अपनी गंध भी है।

रामदरश मिश्र ने मुझे कभी अनुगामी नहीं माना, कभी बस्ते में अपनी महिमा ढोने के लिए नहीं कहा और न ही मेरे माथे पर अपनी महिमा का बलात चन्दन लगाया। उन्होंने तो मुझे अपना



AUGUST_2023 Folder.indd 11 7/28/2023 1:36:12 PM

सहयात्री माना है, कनिष्ठ सहयात्री। केवल माना ही नहीं है, अपितु लिखा भी है। 1999 में उन्होंने मुझ पर एक संस्मरण भी लिखा था, 'मेरा कनिष्ठ साहित्य सहयात्री'। 1999 से पूर्व मैंने रामदरश मिश्र पर कुछ नहीं लिखा था, पर रामदरश मिश्र ने बिना अपने वरिष्ठ होने का अहंकार पाले अपने कनिष्ठ साहित्य सहयात्री पर बहुत-कुछ लिख दिया। चावल के दाने से कुछ कण प्रस्तुत हैं- हम लोगों को शिष्य बहुत मिलते हैं, किन्तु अच्छे शिष्यों का मिलना हमारे लिए भी उपलब्धि होता है और अच्छे शिष्यों में रचनाशील शिष्य मिले तो क्या कहने। रचनाशील शिष्य में भी ऐसे शिष्य मिल जाएँ तो शिष्य और गुरु के बीच बने सम्बन्ध को न पूरे मन से निभाते रहे बल्कि सघनता बढ़ाते रहे तो फिर क्या कहने। प्रेम जनमेजय भी ऐसे ही शिष्यों में हैं। मैं उसे अपना कनिष्ठ साहित्यकार सहयात्री मानता हूँ।" रामदरशजी बड़े होने के मद में युवाओं की भीड़ नहीं जुटाते हैं, जो चारण भांटों की तरह उनकी विरुदावली गाए और चरणों को कमल करती रहे। इसलिए रामदरशजी केवल मेरे अग्रज रचनाकार और अध्यापक नहीं हैं, वे सम्बन्धों को सम्बन्धों की तरह जीने वाले हैं जो आपको भी स्पेस देता है।

मैं उनसे कितना कनिष्ठ हूँ, बताऊँ? रामदरशजी का पहला संग्रह 1951 में आया था। मेरा जन्म 1949 का है। 1951 में तो दो बरस का मैं, इलाहाबाद के पैलेस सिनेमा के पीछे किसी घर में ठीक से चल भी नहीं पा रहा था। 1969 में जब मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय की आर्ट्स फ़ैक्ल्टी में पाँव रखे थे और साहित्य में घुटनो-घुटनो चल रहा था तब उसे आँगन में डॉ. नगेंद्र, डॉ. स्नातक, निर्मला जैन जैसे अन्य गुरुओं के साथ मिश्रजी जैसे गुरु भी मिले। ऐसे मिले कि--- उन्हीं के शब्दों में कहूँ :

"लोग यों तो रोज़ ही आते रहे, आते रहे
आज लेकिन आप आए पास तो अच्छा लगा।"

यह अच्छा लगना निरन्तर है। क्यों है? रामदरश मिश्र अपने से बाद की पीढ़ी को न केवल गंभीरता से लेते हैं अपितु उनके माध्यम से स्वयं को अद्यतन करते हैं। युवा पीढ़ी को लेकर उनकी सोच अमरीकी कवि फ़िलिप लेविन जैसी है। अमरीकी कवि और कैलिफ़ोर्निया स्टेट यूनिवर्सिटी फ्रेंसो में अंग्रेज़ी विभाग में प्रोफ़ेसर रहे फ़िलिप लेविन ने, युवा स्वर को सुनने और जानने की आवश्यक्ता को लेकर कभी कहा था, Listen to these young poets and you'll discover the voice of the present and hear the voice of the future before the future is even here.

रामदरश मिश्र का जन्म देश की स्वतन्त्रता से पूर्व हुआ है पर उनका जन्मदिन भारत की स्वतन्त्रता का जन्मदिन है। यह दिन रामदरश मिश्र के यहाँ साहित्यिक उत्सव का दिन भी होता है। पिछले अनेक वर्षों से, एकाध वर्ष को छोड़कर, उनके निवास पर, मुझ जैसे उनके अनेक शुभचिन्तक एकत्रित होते हैं। यह मिलन उन्हीं की तरह सादगी और आत्मीयता से भरा रहता है। इस विशेष दिन के लिए कोई विशेष निमन्त्रण नहीं होता, जाकि रही भावना जैसा कुछ होता है। लगभग हर वर्ष रामदरश मिश्र की कोई कृति आती है और उसका लोकार्पण भी होता है। वैसे तो लोकार्पण किसी वरिष्ठ-गरिष्ठ साहित्यकार द्वारा कराने का साहित्यिक प्रोटोकॉल है, पर मिश्रजी के यहाँ की सादगी में हर तरह के प्रोटोकॉल का प्रवेश निषिद्ध है। यही कारण है कि लोकार्पण स्वनामधन्य नहीं करता है अपितु उनका कनिष्ठ या कनिष्ठतम सहयात्री करता है। मुझे उनकी ऐसी कृति का लोकार्पण करने का गर्व प्राप्त है जिसे साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। अगस्त 2012 में उन्होंने मुझसे 'आग की हँसी' का लोकार्पण करवाया था। अपना अठ्ठासीवाँ जन्मदिन मनाने वाले वरिष्ठ साहित्यकार ने तिरेसठ वर्ष के अपने शिष्य से, पुस्तक लोकार्पित करने को कहा था। मिश्रजी और मेरा लोकार्पणीय चित्र अगले दिन 'दैनिक हिन्दुस्तान' में समाचार के साथ प्रकाशित भी हुआ था। इसी कृति पर उन्हें 2014 का साहित्य अकादमी सम्मान मिला था।

'आग की हँसी' जब साहित्य अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत हुई तो मुझे इसलिए भी अच्छा लगा कि मिश्रजी के लेखन के माध्यम से व्यंग्य चेतना सम्पन्न कविता भी रेखांकित हो रही है। मिश्रजी में व्यंग्य की प्रखर चेतना है। यदि कोई रामदरशजी की व्यंग्य चेतना से साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे 'आग की हँसी' अवश्य पढ़नी चाहिए। मैं कहूँगा कि व्यंग्य की आग में जिस हँसी की हम बात करते हैं वह ऐसी ही हँसी होती है। व्यंग्य को हास्य का पर्याय मान नाक-भौं मत सिकोड़ें, इस संग्रह की महत्वपूर्ण कविता 'विश्वग्राम' से एक अंश साझा कर रहा हूँ-

"हमारे देश में भी आर्थिक विकास का रथ शान से आगे बढ़ता
जा रहा है मदभरा कोलाहल करता हुआ उस पर सवार है राजनीति,
धर्म, व्यवसाय, मीडिया, प्रशासन आदि के चमकीले चेहरे, नीचे गिरे
हुए तमाम लोग उसे अचरज से देख रहे हैं एक टक और आपस में
पूछ रहे हैं, यह किसका रथ है और कहाँ जा रहा है।"

कुछ और बानगियाँ देखें–

'डाक्टर हड़ताल पर हैं
और पुलिस ड्यूटी पर
देखिए, इस अस्पताल का क्या होता है!'

शायद यही कारण है कि 'व्यंग्य यात्रा' को, उसके जन्म 2004 से, न केवल रामदरश मिश्र की शुभकामनाएँ मिल रही हैं अपितु रचनात्मक सहयोग भी मिल रहा है। यही नहीं जब मैंने 'व्यंग्य यात्रा' का अंक 4, 'व्यंग्य कविता हाशिए पर क्यों' जैसे सवाल पर केन्द्रित किया तो उन्होंने बिना वरिष्ठ लेखकीय अहंकारी स्नॉब के, लगभग लौटती डाक से अपने हस्तलेख में, व्यंग्य चेतना सम्पन्न कविताएँ-'इंतज़ार', 'मृत्युबोध', 'नया साल', 'देश', 'वसंत', 'सहचर्य की यातना', 'समय और युगधर्म, भेज दीं। चावल के दाने के रूप में आपसे 'इंतज़ार' साझा करता हूँ-

'इंतज़ार
हर चौराहे पर
दुर्घटनाग्रस्त होकर तड़प रहा है
एक देश
और हम
डॉक्टर के बदले



AUGUST_2023 Folder.indd 12 7/28/2023 1:36:12 PM

पुलिस का इंतज़ार कर रहे हैं।'

अक्सर मुक्तिबोधीय सवाल किया जाता है, 'तय करो किस ओर हो तुम?' यह सवाल रामदरश मिश्र की रचनाओं से भी किया जाना चाहिए। हर सजग पाठक को अधिकार है कि वह जान सके कि उसका आदर्श रचनाधर्मी क्या सोच रखता है? वह समाज के किस तबके के साथ है। 'किसके साथ हैं' को दो तरह से आंका जाता है। एक तो सीधा-सादा सवाल कि आप किस राजनैतिक दल के संरक्षण में पनप रहे, किस साहित्यिक, सांस्कृतिक, कला आदि 'संघ' के सदस्य हैं? सन् 1975 में 'सार्थक' के सम्पादकीय में मैंने लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता क्या हो? पर सवाल उठाया था। क्या लेखक को किसी राजनैतिक दल का सदस्य होना चाहिए? क्या किसी राजनैतिक दल का सदस्य होते ही लेखक कार्यकर्ता नहीं हो जाता है? उसकी स्वतन्त्र सोच पर पार्टी की सोच दबाव नहीं डालती है? क्या आप स्वयं को सीमित नहीं कर लेते हैं? लेखन की दृष्टि से यदि आप किसी विचार के प्रति प्रतिबद्ध हैं तो क्या उसे प्रमाणित करने के लिए किसी दल की प्रतिबद्धता आवश्यक है? वैचारिक प्रतिबद्धता पर मोहर लगवाने के लिए किसी दल में होना आवश्यक है वरना आप उस सवाल का जवाब नहीं दे पाएँगे- तय करो किस ओर हो तुम? क्या किस ओर हो तुम, आपकी वैचारिक प्रतिबद्धता से नहीं आपकी दलगत प्रतिबद्धता से ही तय किया जा सकता है?

वैचारिक प्रतिबद्धता तो तय करनी होगी। इसका उत्तर बहुत बाद में श्रीलाल शुक्ल से मिला। वे लिखते हैं, "प्रतिबद्धता उस हद तक होती है कि मुझे पता है मेरी सहानुभूति किसके साथ है। जैसे, आप मुझसे पूछें मेरी सिंपैथी मोटर पर चढ़ने वाले के साथ है या पैदल राहगीर के साथ, तो मैं कहूँगा, पैदल राहगीर के साथ लेकिन इसके अलावा पॉलिटिकल प्रोग्राम को मैं लेखन में तरजीह देना पसन्द नहीं करता। सृजनात्मक लेखन एक शुद्ध स्वच्छंदता की स्थिति होती है, इसमें राजनीतिक प्रतिबद्धता का बंधन मुझे स्वीकार नहीं। मेरे निकट लेखन ही ऐसा एक क्षेत्र है जहाँ आप अपनी स्वतन्त्रता ढूँढ सकते हैं, जहाँ न आप अपने बॉस से डरते हैं, न बीवी से। जिसे आप दक्षिणपंथ कहते हैं, उससे मैं बहुत दूर हूँ। लेकिन पिछले कई दशकों में राजनैतिक उठापटक के दौरान साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा की जो गति बनी है और उसे अपने बचाव के जितने मैकेनिज़्म खोजने पड़ रहे हैं, उससे मैं बहुत आश्वस्त नहीं हो पा रहा हूँ। संक्षेप में, भले ही राजनीति की भाषा में इस रुख़ को संदिग्ध माना जाए, मैं सड़क के बीच कुछ क़दम पर बाईं ओर खड़ा हूँ।

यही सोच मुझे रामदरश मिश्र की लगती है। इसी सोच को तो कविता में ढाल वे लिखते हैं-

'बात छोटी या बड़ी हो,
आँच में ख़ुद की जली हो
दूसरों जैसी नहीं, आकार में निज के ढली हो
है अदब का घर, सियासत का नहीं बाज़ार यह तो
झूठ का सिक्का चमाचम यहाँ चलता ही नहीं है!'

मुझे वे सदा वंचितों के साथ दिखाई देते हैं। यही कारण है कि वे किसी दल की बैसाखी थाम छलाँगें लगाने में विश्वास नहीं करते हैं। वे वंचित के साथ हैं। अपनी रचनाओं के द्वारा, इस सोच से वे अपने पाठक को निरन्तर समृद्ध करते रहते हैं।

भ्रष्टाचारी से सवाल करो तो वह आपसे पलट सवाल करता है कि कौन भ्रष्टाचारी नहीं है? यहाँ तक कि सब्ज़ीवाला, कामवाली बाई, रिक्शेवाला, सब। हर झोपड़ी में टीवी, फ्रिज कैसे आया। कुछ ऐसे ही सवाल उनकी कहानी 'चिकित्सक' में उठता है तो मिश्रजी लिखते हैं,

"वाह माँ, तुम तो कवि हो गई हो लेकिन आज कविता से काम नहीं चलता। और जिन्हें तुम ग़रीब कह रही हो, उनकी झुग्गियों में जाकर देखो, वहाँ क्या नहीं है। देखा है?"

"झुग्गियों में जाकर तो नहीं देखा है, लेकिन स्कूल में झुग्गियों की व्यथा-कथा रोज़ देखती हूँ। और बेटे, इतनी स्थूल दृष्टि से दुनिया को मत देखो। तुमने कुछ झुग्गियों में रेडियो, टी.वी. आदि देख लिए तो समझने लगे कि वे बहुत अमीर हो गए। अरे, ये जो ज़िन्दगी जीते हैं, उसका ज़हर कुछ कम करने के लिए ये चीज़ें साधन हैं, ऐसा क्यों नहीं समझते? क्या उनके इतने छोटे-से सुख से ऊँचे लोगों को जलन होने लगी और वे समझने लगे कि उनकी सारी समस्याएँ हल हो गईं? तुम मेरे पुत्र हो और मैं चाहती हूँ कि तुम बीमारों को केवल डॉक्टर की दृष्टि से मत देखो, मनुष्य की भी दृष्टि से देखो।"

कभी मैंने 'अपने' रामदरश मिश्र पर लिखा था, "वे गँवई गुलाब हैं पर वैसे नहीं जिसके बारे में बिहारी ने चिन्ता व्यक्त की थी कि जिसका कोई आदर नहीं और जिसकी नियति फूल्यो अनफूल्यो भली वाली है। वे निराला के शहरी गुलाब भी नहीं हैं जो खाद का खून चूसने वाला अशिष्ट है। डाल पर इतराते कैपिटलिस्ट ने कितनो को गुलाम बना लिया है। वे भावनी प्रसाद मिश्र का भी गुलाब नहीं हैं जो राजनैतिक गुलाब है और केवल शान्तिवन में खिलता है। रामदरश मिश्र का विविधमुखी साहित्य गुलाब की एक-एक पँखुड़ी है जो अकेले और समूह में एक जैसी गंध देती है। ये वह गुलाब है जिसके बारे में शेक्सपियर ने कभी 'रोमियो-जूलियट' में कहा था कि गुलाब को किसी नाम से पुकारें वे वैसा ही मधुर और सुगंधित होगा जैसा वह है। रामदरश मिश्र नामक इस गँवई गुलाब में उनके जैसे सहज लोगों के लिए मधुरता है तो मानवीय मूल्यों के विरोधियों के लिए काँटे भी हैं।

'चाल-ढाल भी मामूली है
रहन सहन भी है देहाती
नहीं घूमता महफ़िल-महफ़िल
ताने नज़र फुलाए छाती
लोगों में ही गुम होकर
लोगों-सा ही हँसता जाता है
कोई नहीं राह में कहता--
वह देखो लेखक जाता है।'

मेरी इच्छा है कि ऐसा हर 'अलेखक' शतायु हो और हिन्दी साहित्य को बरसों बरस समृद्ध करे। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 13 7/28/2023 1:36:12 PM

# रामदरश मिश्र की प्रकृति-कविताएँ

रामदरश मिश्र की काव्ययात्रा बीसवीं सदी के चालीसवें दशक से लेकर इक्कीसवीं सदी की दूसरी सदी तक जारी रहती है। इन अस्सी वर्षों के लम्बे सफ़र में उनकी प्रकृति केन्द्रित कविताएँ 80 के दशक के आस-पास नए भावपक्ष के साथ रची हुई दिखती हैं। अस्सी के दशक से पहले की रचनाएँ दृश्यमान प्रकृति के रूप का वर्णन मानवीकरण सहित उपमा, रूपक आदि अलंकारों के साथ प्रस्तुत करती हैं।



**वेद मित्र शुक्ल**

*ई-मेल : vedmitra.shukla@rajdhani.du.ac.in*

वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र ने एक लम्बी काव्ययात्रा तय की है। चार भागों में उनका वृहद कविता-समग्र प्रकाशित हो चुका है। प्रचुर मात्रा में अनेक विषयों पर कई रूपविधानों के साथ मानवीयता से ओतप्रोत लोकप्रिय कविताएँ उनके द्वारा रची गई हैं। इसके बावजूद उनके कविता-समग्र से प्रकृति के स्वर प्रमुखता के साथ रह-रह कर गूँजते हैं। रामदरश मिश्र की विविधता से परिपूर्ण प्रकृति-कविताओं को और उनके प्रकृति-प्रेम को जानना व समझना आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रकृति के साथ के सरोकारों को पढ़ने जैसा है। हिन्दी साहित्य के छायावादी दौर की दृष्टि-बोध के साथ चलते हुए मिश्रजी की काव्य-यात्रा 21वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भी जारी रही है। इस दौरान उन्होंने प्रकृति विषयक तीनों सप्तकों के सुरों से ही साहित्य-संसार को भरपूर समृद्ध किया है। इन कविताओं से गुज़रते हुए पाठक सरलता से मिश्रजी के प्रकृति-प्रेम को जानने के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के एक पूरे युग में प्रकृति के समय-समय पर बदलते स्वरूप को भी पढ़ और समझ सकता है। प्रकृति मूलक कविताएँ विशेष तौर पर जीवन-मूल्यों, गँवई बनाम शहरी विचारों और दृश्यात्मक सौन्दर्य से गुँजायमान हैं। कलापक्ष और भावपक्ष बेजोड़ है।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष इन कविताओं का यह है कि आम आदमी और यथार्थपरक जीवनराग इनके केन्द्र में हैं। इस कारण लोक से जुड़े फ़सली त्योहारों, ऋतुओं, फूलों, पेड़-पौधों आदि के प्रति कवि ने चित्र, बिम्ब, रूपकादि के द्वारा अपना विशेष स्नेह दर्शाया है। कभी-कभी कोई ख़ास त्योहार या पुष्प उनकी अनेक कविताओं में सहजता से बार-बार उपस्थित होता है, लेकिन जागरूक व संवेदनशील कवि अपने समय के यथार्थ से उन सबको घुला-मिला हुआ ही पाता है। बहुरंगी जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने की उनकी प्रतिबद्धता प्राकृतिक बिम्बों को दोहराव और एकरसता से दूर रखती है। इहलोक से अलग किसी परलोक की अप्सरा की भाँति प्रकृति मिश्रजी की कविताओं में कभी नहीं उतरती है। प्रकृति का रूप-सौन्दर्य उन्हें रोमांचित अवश्य करता है, परन्तु, इस कारण से कि वह सौन्दर्य आमजन-जीवन का भी अभिन्न अंग है। संग्रह में किसी देवता, राजा या धनवान के लिए नहीं, बल्कि प्रकृति केन्द्रित कविता का हर एक पुष्प आपाधापी के युग में हाशिए पर रख दिए जाने वाले मानवीयता और प्रकृति से जुड़े जीवन-मूल्यों और उसके समन्वयकारी संघर्षों के लिए पुष्पित-पल्लवित होता हुआ देखा जा सकता है। ऐसा एक नहीं अनेक कविताओं में परिलक्षित होता है। रामदरश मिश्र प्रकृति से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के वाद या अंधभक्ति के झंडाबरदार नहीं हैं। उनकी प्रकृति-कविताओं में प्रकृति के लिए किसी जुलूस से उपजे जैकारे नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ जिए हुए जीवन से उत्पन्न सहजबोध को पढ़ा जा सकता है।

अंग्रेज़ी साहित्य के विकास के प्रारम्भ से ही प्रकृति-वर्णन अनेक रूपों में प्रमुखता के साथ उपस्थित है। रिनेसा काल (पुनर्जागरण काल) में चॉसर, स्पेंसर, शेक्सपियर आदि और रोमांटिक युग के वड्र्सवर्थ, कीट्स, शैली आदि में तो यह अत्यंत प्रभावशाली है। असल में, जब यूरोप में



AUGUST_2023 Folder.indd 14 7/28/2023 1:36:12 PM

एक समय धर्म को बहुत अधिक प्रमुखता दी गई, तब प्रतिक्रियास्वरूप मानव-श्रेष्ठता (Humanism) का सिद्धान्त मुखर हुआ। इस कारण से रिलीजन की बन्दिशों को तोड़ते हुए प्रकृति का स्वाद चखा गया। प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्नों और रहस्यों को सुलझाना पाश्चात्य सभ्यता के लिए प्रकृति पर मानव की विजय जैसा अनुभव रहा है। इसी कारण से यहाँ यदि रोमांटिक युग (रूसो के 'प्रकृति की ओर लौटो' के दर्शन से युक्त) के साहित्य को अपवाद मान लें तो प्रकृति और मनुष्य के बीच साहचर्य का नहीं, बल्कि सहअस्तित्व के भाव की निर्मित्ति हुई।

भारतीय जनमानस और उसकी लोकचेतना से जुड़कर या दूसरे शब्दों में, एकाकार होकर रचा गया उनका साहित्य-संसार सहअस्तित्व के भाव से ऊपर उठकर प्रकृति के साथ साहचर्य स्थापित करता है। परन्तु, यह साहचर्य इस प्रकार से विशेष है कि इसमें प्रकृति और लोक से जुड़े आमजन का सम्बन्ध है। मनुष्य के नाम पर दुष्यंत-शकुन्तला, देवी-देवताओं के अवतार, धनवान आदि नहीं, बल्कि अति साधारण मनुष्य का प्रकृति के साथ साहचर्य उनकी रचनाओं में पढ़ा जा सकता है। यह उनके आधुनिकताबोध का परिणाम है। उल्लेखनीय है कि आमजन, किसान, मज़दूर आदि रामदरश मिश्र के साहित्य के केन्द्र में हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को बहुत नज़दीक से जाना और समझा है। इसके बावजूद उनके साहित्य में 'संघर्ष' की दृष्टि मुखरित नहीं होती है। उनकी रचनात्मकता का स्तर इतना प्रबल है कि 'संघर्ष' की अपेक्षा 'साहचर्य', 'समन्वय', 'समग्रता' के सहज संवादी सुर रह-रहकर रचनाओं में गूँजते रहते हैं। यदि कहीं संघर्ष उकेरा भी जा सकता है तो उसकी निष्पति समन्वय के उद्देश्य से होती है।

रामदरश मिश्र की काव्ययात्रा बीसवीं सदी के चालीसवें दशक से लेकर इक्कीसवीं सदी की दूसरी सदी तक जारी रहती है। इन अस्सी वर्षों के लम्बे सफ़र में उनकी प्रकृति केन्द्रित कविताएँ 80 के दशक के आस-पास नए भावपक्ष के साथ रची हुई दिखती हैं। अस्सी के दशक से पहले की रचनाएँ दृश्यमान प्रकृति के रूप का वर्णन मानवीकरण सहित उपमा, रूपक आदि अलंकारों के साथ प्रस्तुत करती हैं। अधिकांशतः गीत हैं। गेयता कुछ यों है कि भाषा संगीतात्मक है। इन कविताओं में उपस्थित प्रकृति-वर्णन कवि और पाठक दोनों को रोमांचित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो रामदरश मिश्र द्वारा 1980 के आस-पास के पहले की प्रकृति केन्द्रित कविताएँ सीधे-सीधे प्रकृति के गीत हैं। ये गीत ऋतुओं और फ़सली त्योहारों की मोहक छवियों के भरे-पूरे गुलदस्ते हैं। 'रात की पपीहरी', 'सागर और मैं', 'पंछी', 'समय जल-सा', 'आती-आती-सी शाम' जैसे कुछ ही गीत हैं जो ऋतुओं व त्योहारों से इतर सागर, पंछी, जल, शाम आदि प्राकृतिक विषयों पर हैं। इनके अतिरिक्त सभी प्रकृति केन्द्रित रचनाएँ वसंत, पतझर, चैत्र, फागुन, सावन, शरद, ग्रीष्म, पावस आदि की विविध मनोरम छटाओं से परिपूर्ण हैं। इस रचना-संसार की विशेषता यह है कि एक ही ऋतु या त्योहार पर अनेक गीत हैं, लेकिन हर गीत एक-दूसरे से नए और ताज़े। प्राकृतिक सौन्दर्य से समृद्ध इस संसार के पीछे की ताक़त रामदरशजी का प्रारंभिक जीवन है जो पूर्णतः ग्रामीण परिवेश की गोद में पला-बढ़ा है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में प्रकृति का समावेश सतही स्तर पर नहीं, बल्कि बड़ी गहराई तक हुआ है। इसी बात को 'बाहर तो वसंत आ गया' रामदरश मिश्र की प्रकृति-कविताएँ नामक पुस्तक में मिश्रजी की कविताओं का संकलन और सम्पादन करने वाली सविता मिश्र ने अपने 'पुरोवाक' में लिखा है–

"प्रकृति की अक्षय सुन्दरता में डूबे कछार में जन्मे वरिष्ठ कवि रामदरश मिश्र ने प्रकृति को सदेह जिया है। प्रकृति के बीच ही उनकी काव्य-चेतना का विकास हुआ है।... कृषक जीवन जीने के कारण मिश्र जी की साँस-साँस में सारी ऋतुएँ समाई हुई हैं। खेत-खलिहान में, बाग़-बग़ीचों में, ब्रह्ममुहूर्त की पछिया हवा में व्याप्त मादक ठंड में सैलानी की मुद्रा में घूमता कवि प्रकृति की अनंत छवियों को अपने भीतर भरता रहा। झपटी, चौवाई, रात-रातभर बरसते पानी के शोर से गहराते सन्नाटे की भयावहता झेलता कवि प्रकृति के हर रूप से जुड़ता गया (पृ. 5)।"

गाँव से जुड़े व्यक्ति के लिए वर्षा जीवन से कम नहीं होती है। बारिश के दिनों वाले पावस ऋतु पर विविध रंग के गीत हैं। 'पावस-गीत', 'आए घन बादरा', 'सावन की साँझ', 'बादल चले जा रहे', 'बदरवा रे', 'बादल घेर घेर मत बरस', 'यायावर बादल' आदि शीर्षकों से ये गीत देखे जा सकते हैं। इस ऋतु में प्राकृतिक हरियाली भी हरेपन की आभा से युक्त विविध रंग वाली होती हैं। इन गीतों में हरियाली के कई रंग देखकर कवि मुग्ध है। पंक्ति-पंक्ति में कवि का रोमांच शिखर पर है। हर गीत में कवि स्वयं उपस्थित है। इनमें 'बादल घेर घेर मत बरस' को महत्वपूर्ण रचना मानते हुए चर्चा करें तो इस कविता में पावस ऋतु को कुछ इस प्रकार से उकेरा गया है। घनघोर वर्षा का दृश्य है। बारिश से बचने का कोई विकल्प तरबतर धरती के पास नहीं है। ऐसे में आमजन की तो कँपकपी छूटने लगती है। कँपकपी, थरथराहट जैसे अनुभवों को गँवई प्रकृति पर कवि द्वारा आरोपित किए जाने से गीत अद्‌भुत सौन्दर्य को प्राप्त होता है–

'बादल घेर घेर मत बरस कि मेरे लाज-बसन डूबे
रह रह काँपे हिया हवा में, खुले खेत में धान,
आँखों में परदेशी काँपे, रोम-रोम में बान,
याद का बाँध उठा है टूट कि बिरहा के ये छन डूबे'

'काँप रहे हैं फूल क़दम के, काँपे पियर कनेर,
नीब-शिखा पर पंछी काँपे, मेड़-पार झरबेर,
लोटती काली छाँहों बीच कि मेरे गोर सपन डूबे।' ('बाहर तो वसंत'.., पृ.44)

इसी प्रकार से काँपते हुए 'ताल-तलैया', 'जल की थाह', 'डूबी-डूबी परदेशी राह', 'गीत ओठ में', 'फर फर पात', 'बजरे की देह' आदि गीत में लयबद्ध हैं। वर्षा के दौरान उपजे सौन्दर्य से कवि का रोमाँच शिखर छूने को है, पर, गीत को जिस पंक्ति पर विराम मिलता है वह है, "कहीं ऐसा न हो कि दो दिन में खेतों का यौवन डूबे।" यह पंक्ति दृश्यात्मक वर्णन के साथ-साथ कृषकों की एक बड़ी आशंका की ओर संकेत करती है। यह शंका बाढ़ से फ़सलों के ख़राब होने की है।

कवि द्वारा अपने गीतों में वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए इसे एक नए युग की शुरुआत माना गया है। इस ऋतु में आरम्भ और अंत दोनों समाहित हैं। अपने अनेक साक्षात्कारों में कवि रामदरश मिश्र ने स्वीकारा है कि वसंत उनकी कविताओं का प्रिय विषय रहा है। 'ली नवयुग ने साँस', 'सरसों का वन', 'बौरा-बौरा वसंत', 'ओ वसंत की हवा', 'मधुपर्व', 'बसंत आ रहा है', 'महुए के फूल झर गए', और 'वसंत का एक दिन' शीर्षक से गीत इसी विषय पर सीधे-सीधे भाँति-भाँति की वासंती महक सँजोए हैं। वसंत के ये गीत ऋतु का मोहक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। जड़ता में चैतन्यता का संचार करते गीतों के हर शब्द वसंतमय होते प्रतीत होते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार



AUGUST_2023 Folder.indd 15 7/28/2023 1:36:12 PM

से हैं- 'पीली बेला में कछार की सरसों का वन फूला है' ('सरसों का वन')', 'ली नवयुग ने साँस' झरे धरती के पात पुराने ('ली नवयुग ने साँस'),' 'तुम भी रंग जाओ प्रिय!/ रंगने को आया है अपने में गेह कंत/ बौरा बौरा बसंत!' ('बौरा बौरा वसंत') आदि। आमजन की आशाओं, सकारात्मकता, समन्वय आदि से जुड़े भाव प्रमुखता से इन गीतों में उभरते हैं। ऋतु-वर्णन पढ़कर ये भाव अनायास ही पाठक-मन में अंकित हो जाते हैं। रामदरश मिश्र की पूर्ववर्ती प्रकृति-कविताओं में वसंत से जुड़ी 'महुए के फूल झर गए' शीर्षक से रचना विशेष रूप से मनोहारी है। इस रचना में वसंत के मानवीकरण से और भी अर्थ खुलते हैं। वसंत के जाने के बाद उसके प्रति पहले पले-बढ़े अनुराग की हूक रह-रह मानवमन को एक अलग तरह के पीड़ा या विरह का अनुभव कराती है। यह अनुभव प्रकृति का कवि ही व्यक्त कर सकता है। जो इस प्रकार से है : 'महुए के फूल झर गए/ सूना है/ वसंत चला गया/ हाँक लगाते कितने बौरे क्षण/ उन्हीं घाटियों से गुज़रे होंगे/ बहुत दिन हुए घर गए/ सुना है/ वसंत चला गया '(बाहर तो वसंत.., पृ.50)।'

वसंत ऋतु के फाल्गुन और चैत्र माह पर भी उत्सवधर्मी गीत मिश्रजी के कविता-संसार का एक बड़ा हिस्सा है। इनमें 'चैत आया है', 'फागुन आया', 'फागुन में', 'फागुनी रात', 'फागुन की प्रात', 'फिर फागुन आ गया', 'एक बहकी हवा फागुन की', और 'फागुनी शाम एक नीली झील' शीर्षक से कविताएँ पढ़ी जा सकती हैं। गीत 'फागुन आया' में पंक्ति-पंक्ति फागुन के दृश्यों के साथ कुछ यों लयात्मकता स्थापित करती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे आस-पास फागुनी हवा बहने लगी हो। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

'सौ सौ उजड़े वन-बागों की आहों का झोंका झहराया
हर-हर झर-झर में गूँज उठा फागुन आया फागुन आया'

X X X

'कुछ धूप, धूप में छाँह मधुर
कुछ शीत, शीत में दाह मधुर
कुछ पतझर, पतझर में मधुऋतु
की भरी गुलाबी बाँह मधुर
अँधड़ में तिरतीं मधु परियाँ
नंगे वन-बीच सुरभि-तरियाँ'

मेरे भी मन का सूनसान सुधियों के रस में लहराया '(बाहर तो वसंत आ गया है,' पृ.24)।

इस गीत में फागुन का वह समय जब शीत ऋतु जाने को है ऐसे में सूरज की गर्मी में तनिक भर तपिश आ गई है। इस कारण से छाँह मधुर लगने लगी है, लेकिन धूप पूरी तरह से देह को त्याज्य नहीं है। ऐसे अनुभवों की मात्र अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि गीतात्मक अभिव्यक्ति इस बात की पुष्टि करते हैं कि कवि का रोम-रोम ऋतुओं के साहचर्य में पगा हुआ है। प्रभावी अभिव्यक्ति के साथ-साथ गीतों में विभिन्न प्रकार की मनुष्येतर प्राकृतिक ध्वनियों का समावेश ऋतु वर्णन को और भी मनोहारी बना देता है। 'फिर फागुन आ गया' गीत में फागुनी हवा के सम्पर्क से उत्पन्न ध्वनियों के अनुकरण से उत्पन्न शब्दों का सौन्दर्य मनोहारी है-

'फिर फागुन आ गया
डह डह डहका पलाश
परदेशी अँखियन में
बन अँगार लाल लाल छा गया'।

X X X

'हर हर हर, झर झर झर, फरर फरर रंग-भरी फटी चूनरी
फड़ फड़ गेहूँ में स्वर लोट रहे, दूर पिया बहुत दूर री
लो फिर यह भी राही, बावरी
आँखों को मुड़के भरमा गया'। ('बाहर तो वसंत आ गया है,' पृ.35)

इन गीतों में कोयल, पपीहा आदि पक्षियों सहित सेमल, पलाश, गेहूँ, आम, महुआ, पाकड़, नीम, कदम्ब आदि की फागुनी छवियों के कहीं पर वर्णन तो कहीं मात्र संकेत से ऋतु को जीवन्त कर दिया गया है।

वसंत और पावस के साथ अन्य ऋतुओं के वर्णन की भी मिश्रजी के साहित्य में प्रधानता है। शरद ऋतु से जुड़े गीतों में 'शरद के बादल', 'ओ नए शरद', 'शरद आई', 'हरसिंगार-1', 'पतझर' आदि प्रमुख हैं। इस ऋतु में खिलने वाले हरसिंगार के प्रति कवि का विशेष अनुराग रहा है। रामदरशजी की कई कविताएँ भीतर तक हरसिंगार की छवि और महक सँजो-समोए हैं। 'ओ नए शरद' कविता से एक बानगी प्रस्तुत है– "सुबह उठा तो/ ताज़ा-ताज़ा मौसम महक उठा/ धूप खिली रेशम-सी/ बाहर-भीतर फैल गई/ हरसिंगार झर-झर झरता था/ लगा कि मैं ही लुटा स्वयं को/ महक रहा हूँ ('बाहर तो वसंत आ गया है', पृ. 31)।"

रामदरश मिश्र की पूर्ववर्ती प्रकृति केन्द्रित रचनाएँ कालिदास के ऋतुसंहार की एक छोटी-सी झलक लिए नए रूप में हिन्दी संसार की उपलब्धियाँ हैं। ये ऋतु वर्णन वाली रचनाएँ नए रूप में इसलिए हैं क्योंकि 1960 व 70 के दशक में उस समय के बिम्बों और भाषा को लिए हुए हैं। उदाहरण के लिए शरद के स्वच्छ आकाश में कहीं बादल दिखने पर कवि की काव्यात्मक प्रतिक्रिया को स्कूल जाते हुए बच्चे कुछ इस प्रकार से बल प्रदान करते हैं, 'ओ शरद की स्वच्छ धरती पर/ मैली छाँह उगलने वाले/ असमय खूसट दम्भी बादल/ तुम्हें क्या पता कि/ स्कूल जाते हुए छोटे-छोटे बच्चों की तरह/ किरणों का एक झुंड/ तुम्हें वहाँ से तोड़ रहा है' (वही, पृ. 30)।

इसी प्रकार से ग्रीष्म ऋतु पर 'ग्रीष्म दोपहरी छह कविताएँ', शिशिर ऋतु पर 'जाड़े में' आदि रचनाएँ हैं। 'जाड़े में' गीत की पहली पंक्ति, "खेतों की सिकुड़ी साड़ी में तिजहरिया अलसाई है (वही, पृ. 22)," पूरे गीत को पढ़ने को एक पाठक को विवश कर देती है। ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी के ताज़े बिम्ब आधुनिकता बोध से युक्त कुछ इस प्रकार से हैं : "रिस-रिस चूती हैं क्षणों की मोमबत्तियाँ... उलट गई है दरवाज़े पर पुरानी मालगाड़ी-सी दोपहरी... धूप/ जैसे सुखी-सी तलैया/ प्यासा है आकाश/ प्यासी है भूमि/ हाय दइया/ जाने कहाँ से नहा-धो आई गौरैया... रेती में खेल रहीं हरी-हरी दूबें (वही, पृ. 52-53)।"

1980 के आस-पास से पहले की प्रकृति कविताएँ दृश्यमान प्रकृति-वर्णन के लगभग सभी पक्षों को प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। ऐसी कविताओं के पाठकों का एक अलग ही वर्ग है। ये पाठक इन रचनाओं का रसास्वादन इनकी शाब्दिक संगीतात्मकता, छांदिकता और अलंकारिकता के वशीभूत हो करते हैं। इन गीतों की यह भी विशेषता है कि इनमें आम जन-जीवन के यथार्थ की ओर संकेत भी गीतात्मक भाषा में पढ़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए, कहीं ऐसा न हो कि दो दिन में खेतों का यौवन डूबे ('बादल घेर घेर मत बरस') में बाढ़ के दंश से उपजे किसानों के मन के भय और आशंका को अभिव्यक्ति देने का प्रयास है। प्रकृति के सहचर में दृश्यात्मक प्रभाव से रोमाँच के शिखर पर पहुँच यथार्थ सहित आधुनिक कविता के अन्य



AUGUST_2023 Folder.indd 16 7/28/2023 1:36:12 PM

तत्त्वों को छू आना ही रामदरश मिश्र के पहले चरण की प्रकृति केन्द्रित कविताओं की सर्जनात्मक सफलता है। यथार्थपरक दृष्टि के यही बीज रामदरश मिश्र की प्रकृति केन्द्रित कविताओं की रचना के दूसरे चरण में उभार पर होते हैं।

सर्जना एक सतत प्रक्रिया है। नवीनता प्रक्रिया के मूल में है। इस मूल की साधना का ही परिणाम रहा है कि रामदरश मिश्र के दूसरे चरण की प्रकृति केन्द्रित कविताएँ 1980 के दौर के आमजन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समकालीन कविता के शुरुआत का दौर था।

'बाग में' शीर्षक से रचित कविता में वो स्थापित प्रकृति-सौन्दर्य के प्रतिमान को महत्व नहीं देते हैं। इनके बजाय हाशिए पर रखे गए ठूँठ बाँसों की एक कोठी के उस सौन्दर्य को मान्यता देते हैं जिससे वसंत में बाँसुरी की रागिनी फैलने लगती है या ग़रीब की झोपड़ी बनाने में कारगर साबित होती है। वो लिखते हैं, 'बाग़ के एक कोने में/ पंद्रह-बीस बाँसों की एक कोठी थी/ बाग़ के पेड़ों ने मुस्कुरा कर उनसे कहा- "वसंत आ गया है किन्तु तुम लोग मनहूस से खड़े हो/ न फूलना, न फलना, हमेशा ठूँठ बने रहना/ तभी कहीं से उठ कर/ बाँसुरी की रागिनी फैल गई चारों ओर/ और बाग़ की खुशबुओं का स्वर बन गई/ बाग़ बोला-/ 'कहाँ से आ रही है यह मादक धुन/ बाँस मुस्कराए/ और उनका मुखिया बोला/ वह झोंपड़ी देख रहे हो न/ हमसे बनी है... (पृ.132)।'

'हरसिंगार-2' कविता में उस भौतिकतावादी समाज को दर्पण दिखाया गया है जो जीवन के सहज सौन्दर्य की हत्या करने पर तुला हुआ है। यहाँ हरसिंगार के महकते हुए वृक्ष को प्राकृतिक सौन्दर्य और सहजता से जुड़े हर उस वस्तु का प्रतीक माना जा सकता है जिसको आज दुनियावी चमक-दमक के कारण अनदेखा किया जा रहा है 'दीवाली की प्रतिक्षा रहती है लोगों को/ लेकिन/ मेरा हरसिंगार उदास हो जाता है/ उस दिन/ पटाख़ों की चिरायंध में/ मेरे हरसिंगार की महकती शाम खो जाती है.../ओ भाई,/ दीवाली की रात में/ ले जाओ अपने काले जाल में फँसाकर लक्ष्मी को/ और अपने-अपने तहख़ानों में बन्द कर दो/ मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी उलूक वाहिनी लक्ष्मी/ लेकिन मेरे हरसिंगार को तो आहत मत करो/ मेरा हरसिंगार शरद है/ और शरद जीवन है उन सबका/ जो प्यार करते हैं (पृ. 39-40)'।

मार्मिक व्यंग्य कितना मारक हो सकता है, यह बात 'चिड़िया' नामक कविता को पढ़कर समझा जा सकता है। अपनी वर्चस्ववादी प्रवृत्ति के कारण आदमी इतना भयावह हो गया है कि उसकी आहटों से भी विनाश की बू आती है। जो मनुजता सृष्टि के लिए कल्याणकारी होनी चाहिए थी वह आज विनाशकारी हो गई है। इस बात को चिड़िया बनाम आदमी के माध्यम से कुछ इस प्रकार कहा गया है, 'चिड़िया उड़ती हुई कहीं से आई/ बहुत देर तक इधर-उधर भटकती हुई/ अपना घोंसला खोजती रही/ फिर थक कर एक जाली हुई डाल पर बैठ गई/ और सोचने लगी-/ आज जंगल में कोई आदमी आया था क्या' (पृ. 50)

प्राकृतिक दृश्यों और बिम्बों के माध्यम से क्षरित हो रहे मानवीय मूल्यों, आमजन व लोक के प्रति संवेदनाओं को फिर से मानव-मन में स्थापित करने की सतत काव्यगत साधना 'पंछी', 'हरसिंगार-3', 'वसंत', 'फूल-1', 'बाहर तो वसंत आ गया है', 'ताल और सूरज', 'पेड़' आदि कविताओं में पढ़ी जा सकती है।

कविताओं में गँवई बनाम शहरी जीवन शैली को प्रकृति के साथ घटते-बढ़ते साहचर्य के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। रामदरश मिश्रजी ने व्यक्तिगत जीवन में गाँव को जिया है। महानगरों में बसते हुए भी गाँव कहीं-न-कहीं उनके साथ रहा है। इस कारण से शहर और गाँव के बीच का द्वन्द्व भी प्रकृति केन्द्रित कविताओं में मुख्य विषयवस्तुओं में से एक है। इस सन्दर्भ में उनकी एक प्रसिद्द ग़ज़ल का यह शेर दृष्टव्य है, 'ज़मीं खेत को साथ लेकर चला था/ उगा उसमें कोई शहर धीरे-धीरे।' कुछ कविताओं में शब्दचित्र के द्वारा भी प्रकृति से दूर हो रही मानवीय सभ्यता की त्रासदियों की ओर संकेत किया गया है। 'हवा' नाम की एक लम्बी कविता में गाँव में जिए गए जीवन की विविध छवियाँ प्रस्तुत करते हुए जब महानगरीय यथार्थ को छूते हैं तो विकासशील सभ्यता की पोल खुल जाती है। उसी कविता का एक अंश यहाँ उद्धृत है, 'मैंने कितने वर्षों तक नंगे बदन। तुम्हारे ऋतु-चक्रों के साथ यात्राएँ की हैं हवा!/ तुम्हारी हर साँस अंकित है मेरी त्वचा पर/ हर रूप चित्रित है मेरी आँखों में/ हर स्वर बज रहा है मेरे कानों में/ पर अब तो महानगर में हूँ/ तुम हर ऋतु में यहाँ भी आती हो/ रूप बदल-बदलकर/ लेकिन यहाँ के भद्र लोगों ने/ अपने को बन्द कर लिया है चकने सख्त मकानों में/ ये मकान हर ऋतु में अपनी सुविधा के अनुसार/ यन्त्र से तुम्हें पैदा करते रहते हैं बन्द कमरों में/ तुम बाहर/ आक्रोश से सिर पटकती रहती हो (पृ.120-121)।'

मिश्रजी की इन कविताओं में शहर बहुत देर तक टिक नहीं पाता है और सम्भवतः ऐसा ही उनके समग्र साहित्य में देखा जा सकता है जो एक शोध का विषय है। फ़िलहाल, उनकी प्रकृति केन्द्रित कविताओं के मूल स्रोत के प्रश्न पर ऐसा प्रतीत होता है कि दूर कहीं गाँव के एक पेड़ से एक पंछी अजब दर्दीले स्वर में पुकार रहा होता है और वहीं से उनके भीतर कविताएँ जन्म ले रही होती हैं। इस सन्दर्भ में 'बहुत दिनों बाद चाँदनी में' कविता उल्लेखनीय है, 'बहुत देर से बिजली नहीं थी/ दूर-दूर तक/ बहुत दिनों बाद आज छत पर आया था/ बहुत दिनों बाद लगा-/ चाँदनी अभी भी उतरती है धरती पर/ एक शीतल स्वप्निल आभा फैली थी/ दीठियों पार तक/ हवाओं के ठंडे झोंकों में/ बैशाख की रात स्पंदित हो रही थी/ बिजलियों के खौलते प्रकाश में/ झुलसी मेरी आँखें,/ नहा रही थीं फुहियों की बारिश में/ और खुलते जा रहे थे/ दरवाज़े पर दरवाज़े उम्र के/ मैं जा गिरा था बचपन के गाँव में (पृ. 114)।'

इसी क्रम में 'नदी' नाम से रची गई कविता को भी पढ़ा जा सकता है, 'आज महानगर में हूँ/ छूट गई है नदी मुझसे.../ अब मैं नदी के साथ नहीं हो पाता/ लेकिन लगता है कि/ वह मेरे साथ बहती रही है अदृश्य भाव से/ पहले वह बाहर थी, अब भीतर हो गई है.../ हाँ, आज मैं नदी के साथ नहीं हूँ/ लेकिन वह मेरे साथ है- भीतर, गहरे भीतर/ मुझे भिगोती हुई (पृ. 106-110)।'

प्रकृति पर अथाह साहित्य उपलब्ध है। इसके बावजूद इस पर लिखने की असीम संभावनाएँ बनी ही रहती हैं। भला किस कवि ने प्रकृति केन्द्रित कविताएँ नहीं लिखी होंगी? रामदरश मिश्र की प्रकृति-कविताएँ पढ़ते हुए निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उनकी कविताएँ आधुनिकताबोध से युक्त होने के परिणामस्वरूप यथार्थ के धरातल पर रची गई हैं। चूँकि गाँव को उन्होंने जिया है और प्रकृति को बहुत निकटता से महसूस किया है, इस कारण से उनकी यथार्थपरक कविताओं में प्रकृति सहचर है। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 17 7/28/2023 1:36:12 PM

# जीवन लय पर थिरकता प्रकृति राग

**मिश्रजी गहरी मानवीय संवेदना के कवि हैं। प्रकृति सौन्दर्य की जादुई नगरी का मोह छोड़कर उनकी सृजन-चेतना अन्य मानवीय सन्दर्भों से जुड़ती चली गई तथा नए-नए प्रतीकों, बिम्बों और शैलियों में ढलती गई। युग के यथार्थ को पकड़ने के लिए उनकी अभिव्यक्ति नए-नए मार्ग खोजने में व्यस्त हो उठी थी, लेकिन बहुत समय तक मिश्रजी प्रकृति के उल्लास से स्वयं को मुक्त न रख सके।**



**सविता मिश्र**

*ई-मेल : drsavitamishra64@gmail.com*

प्रकृति की अक्षय सुन्दरता में डूबे कछार में जन्मे वरिष्ठ कवि रामदरश मिश्र ने प्रकृति को सदेह जिया है। प्रकृति के बीच ही उनकी काव्य-चेतना का विकास हुआ है। सरसों, तीसी, मटर आदि के फूलों के सागर में डूबती-उतराती उनकी आँखों में प्रकृति का अक्षय सौन्दर्य न जाने कब से भरता रहा था और पाकड़ की डाल-डाल पर गूँथे हुए लाल पत्तों की सघन आभा में उनका मन खोया रहता था। कटहल और महुए की खुशबुओं के कोलाहल में डूबा कवि-मन कभी कोयल की कूक को अपने में भरता रहता था तो कभी चैत की चाँदनी रातों में डूब जाता था। पेड़ों और फूलों की अलमस्त गंध में डूबा कवि प्रकृति में जीवन की शक्ति और सौन्दर्य को न जाने कब देखने लगा था, कुछ कहा नहीं जा सकता।

कृषक जीवन जीने के कारण मिश्रजी की साँस-साँस में सारी ऋतुएँ समाई हुई हैं। खेत-खलिहान में, बाग़-बग़ीचों में, ब्रह्ममुहूर्त की पछिया हवा में व्याप्त मादक ठण्ड में सैलानी की मुद्रा में घूमता कवि प्रकृति की अनंत छवियों को अपने भीतर भरता रहा। झपटी, चौवाई, रात-रातभर बरसते पानी के शोर से गहराते सन्नाटे की भयावहता झेलता कवि प्रकृति के हर रूप से जुड़ता गया।

मिश्रजी ने बूँदों की लय पर गुनगुनाते पेड़ों के गीतों को न जाने कितनी बार सुना है। कवि की दृष्टि में प्रकृति जीवन की ही नहीं, जीवन मूल्यों की भी पर्याय रही है। उनकी काव्य-यात्रा में प्रकृति हँसती, खिलखिलाती, गुनगुनाती और उल्लास की अनगिनत छवियों को अपने में समेटे थिरकती हुई प्रतीत होती है। कभी-कभी यही उल्लसित प्रकृति थकी-सी अनुभव होने लगती है और अवसादग्रस्त होकर कभी पूर्णतः स्तब्ध हो उठती है तो कभी छटपटाहट से भरकर मौन हाहाकार में डूब जाती है। जीवन की लय पर थिरकती प्रकृति की विविध मुद्राएँ कवि को स्फूर्ति पहुँचाती हैं तो वहीं दूसरी ओर हवाओं पर तैरते मौन आतंक से घिरा कवि अवसाद की सघनता में डूबकर रह जाता है।

मिश्रजी की कविता-यात्रा से गुज़रते हुए प्रकृति के पड़ावों से संवाद करते हुए मन प्रकृति के साथ हो लेता है। उसका सुख-दुख हमारा सुख-दुख बन जाता है। मिश्रजी के व्यापक प्रकृति संसार से गुज़रते हुए कहीं-कहीं मन ठिठक-सा जाता है, डूब जाता है और इस आपाधापी भरे संसार में कुछ ऐसे क्षण सँजो लेता है जिनका आनंद अवर्णनीय है। कवि मनुष्य और प्रकृति के बीच एक गहरी आत्मीयता और संतुलन का भाव स्थापित कर देता है जिसके कारण मनुष्य कहीं भी स्वयं को अकेला अनुभव नहीं करता।

शरद ऋतु में चाँदनी में नहाई हवा उन्हें अपनी ओर खींचती है। हरे-भरे खेतों के बीच ताल के जल में नहाती गुनगुनी धूप के अनेक मोहक बिम्ब उन्होंने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। कोकिल के कंठ से गूँजती उल्लासमयी कूक, निर्झर की धारा को नई रागिनी द्वारा पग में बाँध कर बिछ जाना, मधुपों की टोली का झूम उठना तथा नवलतिकाओं का मंगलघट लिए हुए डोलना



AUGUST_2023 Folder.indd 18 7/28/2023 1:36:13 PM

आदि चित्र कवि की प्राकृतिक सौन्दर्य चेतना के प्रमाण हैं। कवि स्वयं जीवन से प्रेम करने वाला है। अतः उसे 'अंबर की घाटी से भी जीवन धारा' फूटती दिखाई पड़ती है। कलियों का हास जब वन में मकरंद लुटाता है तो सम्पूर्ण वन प्रदेश पंछियों की चहचहाहट से गुँजित हो उठता है।

इस रस को पीता हुआ मन फागुनी उल्लास में बराबर उड़ता रहता है। वन में रस झरता रहता है, फागों की ज्वाला हर ओर लहकने लगती है, डफ और झाँझों की ध्वनि बहकने लगती है। तपन बुझाकर, प्यास जगाने वाली हवा कानों में कुछ कहने लगती है।

रस झर रहा है, चाँद हँस रहा है। जीवन के रेतीले पथ पर इस हँसी और रस में डूबा मन उड़ने लगता है। यह रस अपने में जितना डुबोता है, पागल मन उतना ही उड़ता है। मन के सारे बंधन शिथिल हो उठते हैं। दिशा-दिशा में गीत गूँज उठते हैं। प्राणों में उमंग भर जाती है

'पथ के गीत' के बाद 'बैरंग बनाम चिट्ठियाँ' में प्रकृति का यह उल्लास एक नए शिल्प में सामने आता है। 'ओ नई शरद' नामक कविता में शारदीय प्रकृति कवि के बाहर-भीतर फैलने लगती है।

कवि के अंदर भी एक मौसम अपने समूचे उल्लास के साथ महकने लगता है। 'धूप' नामक कविता में श्वेतपंखी चिड़िया की तरह फुदकती धूप हर डाल पर, हर फूल पर चहकने लगती है। धूप की इस चहचहाहट में कवि के मन का उल्लास भी चहकता प्रतीत होता है। आश्चर्य है कि कछार की संघर्षपूर्ण धरती ने मिश्रजी के हृदय में आशा, विश्वास और उल्लास को निरन्तर जीवित रखा।

'पक गई है धूप' में मिश्रजी के अनुभवों और अभिव्यक्ति में सघनता और ठोसपन आया है। 'पक गई है धूप' के बाद मिश्रजी की कविताओं में कुछ समय के लिए एक शून्य-सा उभर कर आया, जिसमें प्राकृतिक उल्लास की व्याप्ति नहीं दिखाई दी। उनकी काव्य-यात्रा से एक साथ गुज़रते समय उस शून्य का उभरना पाठकों को आहत-सा कर देता है, क्योंकि प्राकृतिक उल्लास की अनगिन विविध रंगी छवियों में डूबा मन इस अभाव को स्वीकार नहीं कर पाता।

स्पष्ट है कि मिश्रजी गहरी मानवीय संवेदना के कवि हैं। प्रकृति सौन्दर्य की जादुई नगरी का मोह छोड़कर उनकी सृजन-चेतना अन्य मानवीय सन्दर्भों से जुड़ती चली गई तथा नए-नए प्रतीकों, बिम्बों और शैलियों में ढलती गई। युग के यथार्थ को पकड़ने के लिए उनकी अभिव्यक्ति नए-नए मार्ग खोजने में व्यस्त हो उठी थी, लेकिन बहुत समय तक मिश्रजी प्रकृति के उल्लास से स्वयं को मुक्त न रख सके।

'बारिश में भीगते बच्चे' नामक संग्रह में शरद ऋतु में खिलखिलाता हरसिंगार, पंखुड़ियों की हँसी और महकती मीठी गंध का उल्लास जीवन को ताज़गी से भर देता है। महानगरीय परिवेश में भी प्रकृति का उल्लास उनके अंतर्मन में सदैव गूँजता रहता है और वे उसकी गूँज को बराबर सुनते रहे हैं, कभी मौन होकर तो कभी मुखर होकर। उनके प्राकृतिक उल्लास की छवियों में जीवन्तता है, स्पंदन है, छायावादी कवियों की तरह रहस्यात्मक कुहासा नहीं।

परिवेश की विसंगतियों एवं भयावहता से प्रभावित मिश्रजी की संवेदना अब प्रकृति को दूसरे रूपों में देखती है। 'पथ के गीत' में 'कश्मीर में वसंत' शीर्षक गीत के अंतर्गत खिन्नता एवं अवसाद की विविध छवियाँ दृष्टिगत होती हैं। सन् 1948 में कश्मीर की स्थिति के सन्दर्भ में कवि ने वासंती परिवेश में व्याप्त उदासी की सघनता को मूर्तिमान किया है।

'पक गई है धूप' में प्रकृति के अनेक चित्रों में मानव-जीवन की चिन्ताएँ और समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं। युगीन तनावों को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करते हुए मिश्रजी तनावजन्य खिन्नता व अवसाद को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुए हैं। सन् 1960 के बाद का समय मोह भंग का समय है। चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण ने भारतीय जनमानस को तोड़ कर रख दिया। इस टूटन भरे परिवेश की भयावहता का सजीव चित्रण किया है।

'दिशाएँ बन्द हैं' नामक कविता में विकल्पहीनता की स्थिति का चित्रण है। 'दिशाओं का बन्द होना', 'आकाश का फड़फड़ाना', 'परछाई का हॉफना', 'क्षणों का मरी हुई मछलियाँ सदृश' प्रतीत होना आदि परिवेश में व्याप्त विसंगतियों से साक्षात्कार करता है।

'कंधे पर सूरज' कविता में सूरज के थके माथे पर उभरता सवेरा अपने-आप में ऐसा बिम्ब है जो मूल्यहीनता की भयानक स्थिति से साक्षात्कार कराता है। 'साक्षात्कार' कविता में 'धूप को लकवा मार जाना', 'हवाओं पर मौन आतंक का घूमना', 'चन्दन वनों को संगमरमरी मकानों में बन्द कर लेना' आदि बिम्ब सन् 1960 के बाद के मोह भंग कर देने वाले समय का नग्न यथार्थ प्रस्तुत करते हैं।

वसंत मिश्रजी की प्रिय ऋतु है। वासंती रंगमयता में डूबा कवि का मन न जाने कितनी वासंती सुबहों को अपने अंदर भरे हुए है, लेकिन राजनैतिक एवं सामाजिक परिदृश्य की कुरुपताओं व 'इमरजेंसी' की विसंगतियों आदि ने उनकी संवेदना का प्रवाह कटु यथार्थ की ओर मोड़ दिया था। इस कटु यथार्थ का अवलोकन कर कवि समाज में व्याप्त अवसाद से साक्षात्कार तो करता ही है, प्रकृति भी उसे खिन्न प्रतीत होती है।

वेदप्रकाश अमिताभ ने लिखा है- "वसंत मिश्रजी की प्रिय ऋतु है लेकिन जब इस ऋतु के साथ सहमा हुआ सन्नाटा जुड़ गया हो, इसका नाम सुनकर भीतर तक धरथराने की स्थिति बनी हुई हो तो फिर वसंत के आने के अर्थ बदल जाते हैं। वसंत गुदगुदाने के बजाय रुलाकर चला जाता है। बाहर-भीतर के अनेक दबाव सहज अनुभूतियों के लिए संकट बने हुए हैं लेकिन अभी संवेदनात्मक स्तर पर सारी सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं।"

काव्य-संग्रह 'आम के पत्ते' में 'नदी' कविता के अंतर्गत वे फिर अपने उस बचपन में पहुँच जाते हैं जहाँ उन्होंने वसंत को जीभर कर जिया था, जहाँ वसंत और नदी तथा नदी और वसंत दोनों एक हो जाते थे। उन क्षणों में मिश्रजी का मन स्वयं बसंत बन जाने का करता था। मिश्र जी ने एक ओर जहाँ वसंतागमन की खुशबुओं को जिया है, वहीं दूसरी ओर वसंत के जाते समय पेड़ पर से पंछी के दर्द भरे राग को भी सुना है।

बहुत दिनों बाद मिश्रजी को 'नंगी डालियाँ सृजन के स्वप्न में डूबी हुई, मुस्कुराती हुई दिखाई दे रही है। फागुनी पूनम की उन्मत्त हँसी में डूबी हुई हवाओं की महक से रातें हँस रही है।' उन्हें पिता की वो आँखें भी अब याद आ रही हैं जिनमें फागुन का हाट लगा रहता था। बहुत लम्बे समय तक उन्होंने परिवेशगत विद्रूपताओं का सामना किया है, उसके दंश को सहा है और उसी के कारण अपने अंदर के वसंत की उन्हें उपेक्षा भी करनी पड़ी है। अब वे चौखट पर हँसती ताज़ा धूप के साथ हँसना चाहते हैं, दरवाज़े थपकाने वाली हवाओं को लौटाना नहीं चाहते, बल्कि उनके साथ बहना चाहते हैं। वे मौसम के द्वारा गाए हुए गीतों को सुनना चाहते

**....पृष्ठ 26 पर जारी**



AUGUST_2023 Folder.indd 19 7/28/2023 1:36:13 PM

# सारस्वत पथ के शलाका पुरुष

*('एक भटकी हुई मुलाक़ात' के विशेष सन्दर्भ में)*

**इस संग्रह में समाज के सभी वर्गों विशेषकर मध्यम वर्ग के दमित, शोषित जन की आर्तनाद और पुकार को स्वर प्रदान किया गया है। इन कहानियों में विभिन्न समुदायों के जीवनसंघर्ष को मात्र समस्या के रूप में चित्रण नहीं किया है बल्कि आमजन को सोचने पर विवश भी करती है। अनसुलझी समस्याओं का समाधान तलाशती ये कहानियाँ विचारों का मंथन करते हुए लम्बा सफ़र तय करती हैं।**



**किरन झा**

*ई-मेल : kiranjha150870@gmail.com*

गोरखपुर के डुमरी गाँव में 15 अगस्त 1924 को तेजसपुँज के रूप में एक देदीप्यमान नक्षत्र उदित होता है। यही वह पल होता है जहाँ भविष्य की पटकथा बुनी जा रही होती है। क़लम के कारीगर अपने जीवन के प्रारम्भिक अवस्था के बारे में कहते हैं कि पढ़ाई में मेरा मन नहीं रमता था। बाल्यकाल का अल्हड़पन उन्हें बहुत आकर्षित करता। उन्होंने अपने जीवन यात्रा वृत्तान्तपरक पुस्तक 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में इस बात को विशेष रूप से रेखांकित किया है कि मेरे विद्याआरम्भ का सम्पूर्ण श्रेय मेरी माता और मेरे गुरु का है। "यह सच है कि माँ न होती तो मैं भी न होता। मैं यह बात जन्म देने के अर्थ में नहीं कह रहा हूँ, संस्कार के अर्थ कह रहा हूँ। हाँ यह सच है कि मेरी सारस्वत यात्रा का प्राथमिक श्रेय मेरी माँ को ही है। उसने अपने भीतर भरे हुए लोक साहित्य और सर्जनात्मक संस्कार को तो सहज ही मेरे भीतर उड़ेला ही, मेरी कुंद-सी दिखने वाली बाल बुद्धि में वर्णमाला के ज्ञान का उजास भी जगाया। वह मुझे निरन्तर साहित्य और जीवन के पथ पर चलते रहने की शक्ति प्रदान करती रही"। बाल्यकाल की ही एक घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं, जब उनके पिता उनकी पढ़ाई-लिखाई में ध्यान नहीं देने पर हाथ में खुरपी थमा देते हैं। उस क्षण उनके जीवन में गाँव के विद्यालय के मास्टरजी ठीक वैसे ही उदित होते हैं जैसे अंधेरे को चीरकर प्रकाश उदित होता है। वे कहते हैं, "अरे सुनिए-सुनिए मिसिरजी, किसने कहा कि यह घास छीलेगा? अरे यह तो बहुत होनहार लड़का है। यह तो बहुत बड़ा आदमी बनेगा।" गुरु का यह आशीष युग बोध के कथाकार के पंखों को खुले आसमान में उड़ान भरने की ताक़त और असीम साहस प्रदान करता है। क़लम उनकी चिर सहचरी बनती है। समाज के प्रति जागरूक और प्रतिबद्ध रचनाकार की लेखनी अनवरत शब्द संधान करती रही और शोषितों, वंचितों का मुखर और सशक्त स्वर बनी। कवि, हृदय कथाकार समस्याओं के प्रति सजग हैं और उसका सार्थक समाधान प्रस्तुत करते हैं न कि पलायन का मार्ग अपनाते हैं। क़लम के साधक ने जीवन के विविध राग और रंग से ऐसे नीड़ का निर्माण किया जिसमें आश्रय तलाशते गाँव और शहर के वे सभी पात्र समाहित हो जाते हैं जिनके जीवन में समस्याओं और विपर्यय का अंबार होता।

लोकमन के विशालमना रचनाकार, कवि-हृदय लेखक रामदरश मिश्र की कहानियाँ जिनमें कुछ लम्बी, कुछ मध्यम और कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ शोषितों, वंचितों और मूक वर्जनाओं का स्वर बनती हैं जिनकी सुननेवाला कोई नहीं। उनके इर्द-गिर्द पसरी दुखों की परती भूमि है और है पीड़ा का अथाह संसार। सूनी आँखों और भीगे हृदय की पुकार की समझ 'एक भटकी हुई मुलाक़ात' कहानी-संग्रह में दिखती है। इस संग्रह की उपर्युक्त कहानी सहित छोटी-बड़ी कुल सत्ताइस कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों के घेरे ग्राम-प्रांतर, नगर और शहर का आवर्त



AUGUST_2023 Folder.indd 20 7/28/2023 1:36:13 PM

बनाते हैं। इनके पात्र जीवन्त और संघर्षशील हैं। इनमें समस्यागत अकुलाहट और बेचैनी के साथ समाधान को मार्ग तलाशती जिजीविषा है-- एकाएक गोकुल का लड़का बाप की लाश छोड़कर उठ पड़ा और भागा।

"कहाँ जा रहे हो, बचवा?" माँ चिल्लाई।

"अभी आ रहा हूँ, माई।"

वह दूसरे गाँव की ओर भागा जा रहा था अपने जाति-भाइयों को सूचना देने! उसे याद है उस दिन उस गाँव का हरिजन नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर साँपों से लड़ाई लड़नी ही पड़ेगी। ('सर्पदंश' कहानी)

मिश्रजी की रचनाधर्मिता किसी वाद की मोहताज नहीं होती। गद्य की सघन बुनावट में कथ्य का पैनापन व्यंग्य का तीखा प्रहार करता है। इनकी कहानियों में भी कारुणिक स्थितियों का चित्रण यह दर्शाता है कि स्त्रियों की स्थिति आज भी सुखद नहीं है, वे अभी भी औसत दर्जे का ही जीवन व्यतीत कर रही हैं।

इस संग्रह में समाज के सभी वर्गों विशेष कर मध्यम वर्ग के दमित, शोषित जन की आर्तनाद और पुकार को स्वर प्रदान किया गया है। इन कहानियों में विभिन्न समुदायों के जीवनसंघर्ष को मात्र समस्या के रूप में चित्रण नहीं किया है बल्कि आमजन को सोचने पर विवश भी करती है। अनसुलझी समस्याओं का समाधान तलाशती ये कहानियाँ विचारों का मंथन करते हुए लम्बा सफ़र तय करती हैं।

संग्रह की कहानियों का विस्तार जीवन का संधान करते हुए कर्म योद्धा की मानिंद उन दृढ़ पात्रों से साक्षात्कार होता है जो उस नदी की धारा जैसे होते हैं जो मार्ग में आनेवाले दृढ़ पाषाणों को खण्डित करने का जज़्बा रखते हैं। इन कहानियों से गुज़रते हुए ऐसे ही पात्रों को जीना होता है जो अनवरत संघर्षरत हैं, बेहतर भविष्य की आस में। अनेक ऐसे अवसर भी आते हैं जब समाज और व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगता है और पाठक स्वयं को उस दुनिया का एक पात्र महसूस करता है। अनुभव की एकात्म धरातल तब साँझी हो जाती है और विचित्र-सी बेचैनी का अनुभव कहानी की जीवन्तता और पैनी पकड़ की सघन घेरा बनाती है।

इस संग्रह में शहरी परिवेश की कहानियाँ भी हैं और गाँव की सुवास से सिक्त ग्रामीण परिवेश की जीवन्त अनुभूतिजन्य कहानियाँ भी।

'एक औरत : एक ज़िन्दगी' कहानी में समाज से लोहा लेती हुई स्त्री का चित्रण है जो संघर्षरत स्त्री का वितान बुनती है। भवानी ने पूछा, "आधा आपका कैसे?"

"यह तो बँटाई का था। मैंने जोताया बोवाया था", धनपति बेशरमी से बोला।

"बँटाई का तो नहीं था। आपने सहायता की थी। मगर मैं आपकी सहायता नहीं चाहती। आपने जितना ख़र्च किया है, सूद सहित ले लीजिए।"

"नहीं, नहीं, खेत बँटाई पर थे", धनपति अड़ा हुआ था।

तो आप अब तक कहाँ थे जब मैं अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर खेत सींच रही थी, कटिया कर रही थी।"

"यह तो तुम्हारा निजी उत्साह था। उसके लिए मैं क्या कर सकता था?"

भवानी अड़ गई "आप झूठ बोलते हैं! बँटाई की बात नहीं हुई थी और मैं फ़सल में हाथ लगाने नहीं दूँगी!"

धनपतिया ने अपने हलवाहों को ललकारा, "उठा लोग आधा डाँठ इसकए खलिहान में से!"

भवानी हाथ में गड़ासा लिए तन गई, "जिस किसी ने डाँठ पर हाथ लगाया, उसे बाल दूँगी!"

"यह डाँठ हमारे खून-पसीने से सींचा है!"

मिश्रजी की कहानियाँ समाज से संवाद करती हैं। उनकी कहानियों में चित्रित समस्याएँ उत्तेजित करती हैं जिसकी चुभन सालती रहती है। इनकी कहानियों में दलित, शोषित जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री पात्र जाग रही हैं, सचेत हैं। मिश्रजी की कहानियों में मात्र सम्बन्धों के बिखरने और बनने की पड़ताल नहीं है वरन् इनमें परिवेश के अनुभवजन्य व्यावहारिक बोध और युगीन चेतना की संगति है। इन कहानियों में विचार की विशालता और अनुभव की गहराई है।

इस संग्रह की प्रथम कहानी 'विदूषक' ग्रामीण वातावरण में जी रहे मेधावी प्रतिभा की पहचान और उसके अनुरूप अवसर न मिलने पर मुर्झा जाने की व्यथा दर्शाती है।

सबको हँसाने वाले विदूषक जोगीराय के जीवन की त्रासदी अत्यंत मार्मिक है-- "संजय एक जलते हुए घर में कूद पड़ा था। होली के दिन गनपति बाबा के घर में किसी ने आग लगा दी थी। उनका पोता मकान में फँस गया था। सभी लोग बाहर खड़े होकर चिल्ला रहे थे, लेकिन भीतर कोई नहीं पैठ रहा था। संजय ने बच्चे को तो बचा दिया परन्तु ख़ुद को नहीं बचा पाया। जिस बेटे को जोगीराय सदैव निकम्मा समझता रहा, उसी बेटे के इस कृत्य ने सिर गर्व से ऊँचा कर दिया।"....बेटे के वह भी इकलौते बेटे के मरने के ग़म का आर-पार नहीं है लेकिन वह इस तरह मरकर मेरा सिर ऊँचा कर गया। विडम्बना देखिए कि अपने को लायक कहने वाला जोगीराय ज़िन्दगी भर छेड़छाड़ कर गनपति बाबा को दुखी ही करता रहा और उसके नालायक बेटे ने गनपति बाबा के पोते को बचाने के लिए अपनी जान दे दी।

'बबुआ' कहानी के माध्यम से पारिवारिक, सामाजिक संस्कारों और शुचिता पर दो पीढ़ियों एवं गाँव और शहर के मध्य बढ़ती दूरियों को दर्शाया गया है। वहीं 'सीमा' कहानी गाँव में रह रही एक शारीरिक विकलांग किशोर वयस्क कन्या के अंतर्मन पर लग रही चोट और उससे संघर्ष करते हुए अपने लिए उसकी माँ का समाज से विरोधी तेवर से जूझने को दर्शाया गया है। एक अन्य कहानी 'चिट्ठियों के बीच' शहरी मानसिकता और सुख-समृद्धि की सोच से घिरे परिवार के सदस्य के रूप में देश का चरित्र वर्तमान परिस्थितियों और मध्यवर्गीय पारिवारिक खींचतान के बीच गृहस्थी की नाव खेने की जद्दोजहद में गाँव में रह रही माता के प्रति दायित्व से मुँह मोड़ने को तत्पर होना है पर जब वह एक निर्धन का अपने माता, पिता, भाई, बहन के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा को देखता है तो अपने दायित्वों के प्रति जागृत हो जाता है। जब वह चिट्ठी लिखने को देव से कहता है मनीआर्डर के साथ--- हाँ, बाबूजी लिखि दीहल जा कि माई रे चालिस रुपया भेजत बाटी बीस रुपया करज चुका



AUGUST_2023 Folder.indd 21 7/28/2023 1:36:13 PM

दीहे, बीस में काम चलइहे, हाँ भाई बहिनी के कवनो तकलीफ न होखे पावे, हमरे जियत भर तुहन लोगन के तकलीफ नाहीं होखे पाई।"

फ़ार्म भरकर देव ने पूछा, "क्यों रे अपने बीवी-बच्चों को कुछ नहीं लिखाएगा।" वह लजा गया, जाए देईं बाबूजी मेहरी लइका के ख्याल करे खातिर माई बरलीबा।" उसकी आँखें भर आईं, परन्तु सम्भाल कर चला गया। एक अन्य धरातल की कथा कहती हुई कहानी है 'तीन चिट्ठियाँ' --इनकम टैक्स के दो सौ रुपयों की अदायगी की माँग

चिट्ठी, हाउस टैक्स के डेढ़ सौ रुपये जमा करने की नोटिस

चिट्ठी शिक्षा कर के चालीस रुपये जमा करने की नोटिस

आर्थिक तंगहाली में जी रहे निम्न मध्यवर्गीय परिवार की जद्दोजहद को दर्शाती हुई यह कहानी मार्मिक चोट करती है।

'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' कहानी के माध्यम से उत्तर प्रदेश के किसान और किसानी पर निर्भर गृहस्थों की करुण गाथा कहा गया है। कभी बाढ़ तो कभी सूखे की मार से त्रस्त जनजीवन की कारुणिक स्थितियों की गाथा है। खेती न हो तो मनुष्य के साथ-साथ पशुओं की दयनीय अवस्था, माँस गलकर बह जाने और हड्डियाँ बचे रहने का बिम्ब हृदय को बेध जाता है और उस पर व्यंग्य करती हुई नेताजी की वाणी रेडियो पर गूँजती है---- "चारों ओर अजब सन्नाटा, मन में अँटा पड़ा है। नदी के कटे हुए तट, खेतों में खुली हुई दरारें, उजड़े हुए सिवान, ठूँठ होते हुए पेड़----- चारों ओर घूमती मृत्यु की गंध।"

भूख से होती मृत्यु और इलाज के अभाव में दम तोड़ती ज़िन्दगियाँ और नेताजी का रेडियो पर बजता स्वर परिस्थिति को भयावह और दर्दनाक बनाता हुआ, "लेकिन लोग बहुत मनोबल से लड़ रहे हैं। उनमें बड़ी शक्ति है। किसी को भूख से मरने नहीं दिया जाएगा।" राजनैतिक विद्रूपताओं की पाशविक व्यथा-कथा को दर्शाती है यह कहानी। कोई व्यक्ति स्थूल सौन्दर्य के मोह में कैसे उलझ कर रह जाता है कि उसे उसके पीछे का छलावा नहीं दिख पाता। भ्रम का मायाजाल जब टूटता है तब रेत की मानिंद ज़िन्दगी दूर जा चुकी होती है। स्त्री-पुरुष के बीच पनपे बाह्य आकर्षण कितना घातक और छलावा सिद्ध होता है, इसकी परतें 'लाल हथेली' कहानी में खुलती हैं। रूप-माधुर्य के मायाजाल में फँसे व्यक्ति सुभाष का अपनी पत्नी की अनदेखी करते जाना और अंततः रंगीनियों की चकाचौंध के वशीभूत होकर एक ऐसी खूबसूरत स्त्री से विवाह करना जिसके सौन्दर्य के आवरण में छिपी विद्रूपता को वह तब जान पाता है जब वह अस्वस्थ और शारीरिक रूप से बिल्कुल लाचार हो जाता है। रुग्नता की स्थिति में उसकी पत्नी उसे परिचारिका के सहारे छोड़ जीवन के सब सुख भोगती है। साथ के ही कमरे में हँसी/ ठहाके लगाती, "कोई कष्ट तो नहीं सुभाष।"

सुभाष ने समर्थन में हल्के से सिर हिला दिया।

"सिस्टर देखना इन्हें कोई तकलीफ़ न हो।"

"अच्छा गुड नाइट सुभाष", कहकर ज्योत्सना ने अपनी लाल-लाल हथेलियों की लाल कोमल अँगुलियाँ हल्के-हल्के लहरा दीं। खून से सुर्ख़ उसके बढ़े हुए नाख़ून मंद प्रकाश को एक बार चीर गए। उपेक्षा और अविश्वास को उसी के पास छोड़कर ज्योत्सना कहीं दूर चली गई। मिश्रजी की कहानियाँ न केवल ग्रामीण संवेदना को स्पर्श करती हैं वरन् शहरी संत्रास की तहों की भी पड़ताल करती हैं। 'एक भटकी हुई मुलाक़ात' शीर्षक पुस्तक की उक्त कथा शहरी जीवन में कामकाजी दम्पत्ति और उनके सम्बन्धों में आए खटास से तलाक़ की और इन सबके मध्य संतान के बिछड़ने की व्यथा को दर्शाया है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था पर भी करारी चोट की गई है, "कोर्ट का फ़ैसला यही है न कि मनोज सुधांशु का है। सुधांशु जब तक चाहे उसे पालने-पोसने के लिए अंजना के पास छोड़ सकता है। अंजना को इस फ़ैसले पर इतना क्रोध आया कि .....मगर फ़ैसले का क्या दोष, कानून ही ऐसा है।"

इस परिवार की एक यात्रा में मुलाक़ात होती है। सुधांशु का दोबारा विवाह होता परन्तु अंजना दोबारा विवाह नहीं करती, स्वावलम्बी बनती है, अपने पैरों पर खड़ी होती है। इनकी मुलाक़ात एक यात्रा के दौरान ट्रेन में होती है और स्मृतियों का ताना-बाना प्रारम्भ होता है। अपने बच्चे के लिए वेदना से तड़पती माँ की संवेदना को इस कहानी में मार्मिकता के साथ दर्शाया गया है।

वहीं एक और कहानी 'एक औरत एक ज़िन्दगी' में गाँव की विधवा स्त्री के साहस और धैर्य का परिचय मिलता है। गाँव के कुत्सित मनोवृत्ति के लोग उसकी ओर बुरी नीयत रखते हैं परन्तु वह स्त्री उनका डटकर मुक़ाबला करती है जिसके बदले के रूप में दरिंदे का परिचय मिलता है जो मदद मात्र गन्दी सोच के साथ करना चाहता है और भवानी द्वारा उसका प्रतिकार और विरोध करने पर उसके भरे-पूरे फ़सल में रात के अँधेरे में आग लगा देता है। भवानी हाहाकार कर उठती है और जलते हुए डाँठ की एक मूठ लेकर धनपति के खलिहान की ओर दौड़ती है मगर लोगों ने उसे रोक लिया। उसका यह आक्रोश समाज पर प्रश्नचिह्न है---"क्या मुझी को रोकने को वीर बने हैं आप लोग? धनपति को रोकने में डर लगता है? आपका इंसाफ़ कमज़ोर के लिए ही है?" इस संग्रह में कई प्रभावपूर्ण छोटी-छोटी कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों को पढ़कर पाठक समाज के उन वर्गों को केन्द्रित कर दर्शाए गए मारक व्यंग्य का जीता-जागता स्वरूप देखता है जो हाशिए पर हैं और उनकी सुध लेने वाला कोई नहीं। ऐसी ही कथा कहती अगली कहानी है 'एक वह'। इस कहानी के माध्यम से ग़रीबी की हृदयविदारक व्यथा हमारे समक्ष उभरती है--- कहीं से उड़ता हुआ आकर एक पोस्टर लाश पर चिपक गया है और फड़फड़ा रहा है। चलते चलते भीड़ उस पोस्टर को पढ़ लेती है----- 'ग़रीबी हटाओ'। 'सड़क' कहानी पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी की सोच और इनके बीच की दूरी को पाटती हुई नज़र आती है। इस कहानी में खादी के आदर्श को जी रहे परिवार के संघर्ष का चित्रण है। इनके पास आजीविका का सहारा नहीं होता। मास्टर चन्द्रभान पाण्डे की ग़रीबी और उनके साथ दुर्व्यवहार करते हुए इलाक़े के एमएलए जंगबहादुर यादव का चरित्र करारा व्यंग्य है जो मास्टर के अपमान में अपना बड़प्पन अनुभव करता है।

नई पीढ़ी के नौजवान के रूप में उनके बेटे रमेश का चरित्रांकन है जो सभी वस्तुस्थिति को समझता हुआ जीवन-यापन करने के लिए कोई भी काम जैसे–सड़क किनारे चाय की दुकान तक लगाने में परहेज़



AUGUST_2023 Folder.indd 22 7/28/2023 1:36:13 PM

नहीं करता।

इस संग्रह की एक और कहानी 'निर्णयों के बीच एक निर्णय' है जो मनोविज्ञान की धरातल पर आगे बढ़ती है। इस कहानी में एक अत्यन्त प्रतिभावान कवि-लेखक का जीवन दर्शाया गया है जो दुनियावी मोहमाया से दूर है और अध्यात्म से उसका गहरा लगाव है। उसके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। वह कभी भी और कहीं भी अनाचार और व्यभिचार को बर्दाश्त नहीं करता परन्तु दुनियावी शिष्टाचार से दूर लोगों से भिड़ जाता है और श्रेष्ठ साहित्यकार में अपना स्थान रखने वाला 'ज्ञान' विक्षिप्त और अत्यंत विपन्नता की स्थिति से घिर जाता है जिससे उसे मित्र भी कन्नी काटने लगते हैं। 'सहाय' के रूप में भोंडे आयोजक का वर्णन है- "मैं घृणा से खिड़की की ओर मुँह फेरकर बाहर की तरफ़ देखने लगा और निर्णय किया कि इससे बात नहीं करूँगा। एकाएक देखा, ज्ञान सड़क पर खड़ा है और मुझे देखते ही चिल्लाया- भाई साहेब।"

"मैंने झटके से सहाय की ओर मुँह फेर लिया। सहाय ने एक अद्‌भुत चिपचिपी हँसी से भरी आँखें मेरे चेहरे पर गड़ा दी और मैं न जाने क्यों उससे ज़ोर-ज़ोर से बातें करने लगा।"

'मुर्दा मैदान' कहानी समाज में हाशिए पर रह रहे विपन्नता की मार झेलते हुए बच्चों की कारुणिक दशा को दर्शाता है। वज़ीरपुर के विशाल कूड़े के अंबार और उसमें से कूड़ा तलाशते पीठ पर छोटी-बड़ी बोरियाँ लटकाए छोटी-बड़ी लड़कियाँ, मर्द और औरतों की कथा है जिनके जीवन का कोई मोल नहीं।

हट्टी और भोला के रूप में पढ़ने की ललक लिए हुए बालकों जो ग़रीबी के मकड़जाल में घिरे हुए हैं। आसमान में हवाई जहाज़ से गिरते हुए अनगिन पन्नों में लिखी इबारतों में चुभता हुआ व्यंग्य है कि, "ग़रीब और अमीर हो गए हैं, हमारे पास अच्छे मकान हो गए हैं, हमारे पास खाने-पीने के लिए ढेर सारे सामान आ गए हैं। हम लोग पढ़-लिखकर अफ़सर बन गए।"

और एक दिन भोला की दुर्गंधभरी ज़िन्दगी किसी मिनिस्टर की गाड़ी की चपेट में आ जाती है और उस जीवन का हिसाब देने वाला कोई नहीं।

संग्रह की अगली कहानी 'अतीत का विष' है। नाम के अनुरूप ही बीते हुए जीवन की काली परछाइयों का वर्तमान तक पीछा करते हुए दंश की व्यथा झलकती है उक्त कहानी में- देह व्यापार में ढकेली गई स्त्रियों की पीड़ा को स्वर दिया गया है। एक ओर समाज के कुछ घिनौने चेहरे इस कुकृत्य में अबला स्त्रियों के साथ अनाचार करते हैं वहीं सुभाष नामक संवेदनशील पुरुष का भी चित्रण है जो सुषमा को अपनाता है। मानवीय धरातल की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक पक्ष की गहनता को उजागर करती हैं। 'सर्पदंश' शीर्षक लघु कहानी मार्मिक व्यंग्य करती है। ग्रामीण परिवेश की भुखमरी और निर्दयी ज़मींदारों की बर्बरता को इस कहानी के माध्यम से उकेरा गया है। गोकुल दलित जाति का है और सदैव दमित, शोषित ही रहता है परन्तु गोकुल का बेटा विद्रोही है और वह अपनी और अपने जैसों की स्थिति सुधारने के लिए सिर पर कफ़न बाँधे रहता है, "एकाएक गोकुल का लड़का बाप की लाश छोड़कर उठ पड़ा और भागा.....वह दूसरे गाँव की तरफ़ भागा जा रहा था अपने जाति भाइयों को सूचना देने। उसे याद है उस दिन उस गाँव का हरिजन नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर साँपों से लड़ाई करनी ही होगी। सन् 1980 में लिखी यह कहानी सामाजिक कुरीतियों पर पैनी चोट करती है।

विश्व में विकास अनवरत जारी है। कहानियों के प्लाट का वितान भी उर्वर और चौरस होता जा रहा है। जीवन में जहाँ संत्रास, कुंठा, अवसाद और आपाधापी व्याप्त है वैसी ही कथा भी आज अपना जामा बदल चुकी है। वैसी परिस्थिति में ग्रामगंधी खेतिहर, मज़दूर, संघर्षशील काश्तकारिन की कथा ज़मीन के क़रीब लाने का कार्य करती है।

'भटकी हुई मुलाक़ात' संग्रह की कहानियाँ पाठकों को एक दीर्घ कालखण्ड और विस्तृत भावभूमियों का साक्षात्कार कराती हैं। पुस्तक की लम्बी कहानियाँ और साथ ही कुछ लघु कथाएँ शहर और ग्रामीण पात्रों की रोज़मर्रा के कार्यव्यापार के इर्द-गिर्द अपनी कथा कहती चलती है जिससे पाठक का सीधा तादात्म्य स्थापित होता है। वास्तविकता के क़रीब की प्रतीत होती हुई ये कहानियाँ सदैव अपनी-सी सहज, स्वाभाविक मालूम होती हैं। वरिष्ठ कथाकार और कविहृदय विचारक लेखक का यह कहानी-संग्रह उनके अन्य कथा-संग्रहों की ही भाँति प्रभावपूर्ण है और उसमें व्यक्त जीवनराग आशान्वित करता है जो कहता है, मैं यहाँ हूँ।

हिन्दी साहित्य जगत में हम स्वर्णिम सौ वर्षों की रचनाशीलता का जीता-जागता दृष्टांत कथाकार रामदरश मिश्र के रूप में पाते हैं। वयस और सृजन के संधिस्थल के रूप में आज साक्षात सरस्वती के वरदपुत्र की झोली में साहित्य की विभिन्न विधाओं का रचना-संसार है जिनमें दमितों, शोषितों को राह दिखाती असंख्य रश्मि किरणें हैं। 'एक भटकी हुई मुलाक़ात' के रचना-संसार से गुज़रते हुए हम पाते हैं कि मिश्रजी की रचनाधर्मिता जटिलतम संवेदनाओं की सार्थक, स्वाभाविक और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है। भाषा में सरलता और सहजता के साथ कहन शैली की गम्भीर बुनावट है जिसमें ग्रामीण और शहराती पात्रों की सशक्त अभिव्यंजना है। इस संग्रह की सभी कहानियाँ प्रभावशाली हैं। संग्रह की लम्बी कहानी के समान ही छोटी कहानियाँ भी प्रभाव में दीर्घ ठहरती हैं। कहानी की पटकथा की व्यापकता को समेटती हुई सभी कहानियाँ बहुआयामी सामाजिक ताने बाने को प्रस्तुत करती हैं। साहित्याकाश में आलोकित रवि के सदृश मिश्रजी सदैव पूर्ण, परिपूर्ण और सम्पूर्ण रहे। लघुता उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाई। विराट व्यक्तित्व और विशाल हृदय के धनी कथाकार के ही शब्दों में बीते सहस्त्र वर्ष आनेवाले सुन्दर कल का साक्षी बने– "सारस्वत पथ पर चलने वाले यात्रियों की मंज़िल एक होती है किन्तु रास्ते अपने-अपने होते हैं तभी उनकी अपनी पहचान बनती है, उन्हें निजी वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। वे एक-दूसरे के पर्याय बनकर नहीं, अपनी-अपनी निजता प्राप्त कर कला और जीवन को कुछ दे पाते हैं। उनकी उपलब्धियाँ छोटी हों या बड़ी, सार्थक होती हैं।" ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 23 7/28/2023 1:36:14 PM

# कविता चित्त के द्वार को खोलती है

(*रामदरश मिश्र* से *ओम निश्चल* की बातचीत)

**लेखक जब बहुत वरिष्ठ हो जाता है तब वह बैठकर सोचता नहीं है कि मैं किस विषय पर कहानी लिखूँ या किस विषय पर कविता या किस विषय पर अन्य विधा में लिखूँ? इन विधाओं की रचनाएँ स्वतः ही अपने समय से जुड़ती चली जाती हैं।**



**ओम निश्चल**

*ई-मेल : dromnishchal@gmail.com*

*इसी 15 अगस्त, 2023 को हिन्दी के जाने-माने लेखक रामदरश मिश्र सौवें साल में प्रवेश करेंगे। इसी तिथि से उनकी जन्मशताब्दी प्रारम्भ होगी। जीवित लेखकों में वे शायद पहले लेखक होंगे जो अपनी जीवन-सक्रियताओं के साथ यह शताब्दी मनाएँगे। हिन्दी के अप्रतिम कवि-कथाकार-गद्यकार रामदरश मिश्र हिन्दी के तीसरे लेखक हैं जिन्हें पिछले साल बिड़ला फ़ाउंडेशन द्वारा सरस्वती सम्मान प्रदान किया गया। इससे पूर्व वे हिन्दी अकादेमी के शलाका सम्मान, बिड़ला फ़ाउंडेशन के व्यास सम्मान, साहित्य अकादेमी पुरस्कार, दयावती मोदीकवि शेखर सम्मान व भारत भारती से सम्मानित हो चुके हैं। वे हिन्दी के गाँधीवादी व प्रगतिशील मानव-मूल्यों के ऐसे रचनाकार हैं जिनकी लेखनी ने सदा सत्य का वरण किया है और विभिन्न रचनात्मक विधाओं को अपनी मेधा और संवेदना से सींचा है।*

*रामदरश मिश्र से मिलना हर बार एक नया सुख देता है। पिछले साल 2022 में जब साहित्य अकादेमी ने 'लेखक से मिलिए' कार्यक्रम के लिए उन्हें आमन्त्रित करने की योजना बनाई तो लगा उत्तर जीवन में उनके लिए कहीं भी निकलना मुश्किल-सा होता जा रहा है। ऐसे में वे इस कार्यक्रम के बहाने दिल्ली और दिल्ली के बाहर के पाठकों-लेखकों के सम्मुख होंगे और अपने अनुभव साझा करेंगे तो यह तो बहुत ही अच्छी बात है। अब उनका शताब्दी वर्ष आ पहुँचा है। सौ सालों का भरा-पूरा जीवन उन्होंने जिया है। इस वय में भी वे उत्तम नगर के अपने आवास के ड्राइंग रूम में कुछ-न-कुछ लिखते-पढ़ते हुए देखे जा सकते हैं। लोग उनसे मिलने आते रहते हैं, इस बात से ही वे धन्यता का अनुभव करते हैं और कई पीढ़ियों के लेखकों से संवाद बनाए रखते हैं। 100 से अधिक कृतियों के रचनाकार रामदरश मिश्र से प्रस्तुत है बातचीत के कुछ अंश :–*

**प्रश्न : कविता किस तरह आपके चित्त को खोलती है?**

**उत्तर :** कविता मैं तभी लिखता हूँ जब कोई अनुभव मुझे भीतर से भरता है। चाहे किसी सौन्दर्य की अनुभूति, चाहे, पराए दुख-दर्द की अनुभूति हो। वह जब मेरे भीतर चहल-पहल मचाती है तब उसे रूपायित करने की बेचैनी मुझे हो जाती है और उसके रूपायित होने के बाद मुझे मुक्ति का-सा आनंद मिलता है। इधर के मेरे कई संग्रहों में कई निर्जीव वस्तुओं पर भी लम्बी-लम्बी कविताएँ शामिल हैं। वे निर्जीव वस्तुएँ तो न जाने कब से सबके सामने पड़ी होती हैं लेकिन किसी दिन जब यह चेतना जागृत होती है कि अरे ये वस्तुएँ निर्जीव होकर भी हमारे या समाज के जीवन के साथ कितने जुड़ी हुई हैं, जुड़ी हुई ही नहीं बल्कि उनके जीवन को न जाने कितने सुख देती हैं तो उनके बारे में सोचते हुए बहुत सुख मिलता है। जैसे एक दिन मैंने मेज़ पर कविताएँ लिख दीं तो मेज़ तो न जाने कब से हमारे या आपके कमरे में पड़ी होती है लेकिन उस दिन एकाएक महसूस हुआ कि मेज़ के साथ हमारे जीवन की कितनी सुखद क्रियाएँ जुड़ी हुई



AUGUST_2023 Folder.indd 24 7/28/2023 1:36:14 PM

हैं। इसी तरह 'क़लम' कविता ने मुझे एक दिन अपने अनेक आयामी रचना-कर्म से जोड़ दिया। हुआ यह कि मजिस्ट्रेट ने कोई दुखद फ़ैसला देकर क़लम को तोड़ दिया था तो मुझे लगा, इसमें क़लम का क्या कसूर और इस तरह क़लम के साथ मेरे, आपके, उनके और तमाम लोगों के जो विविध सम्बन्ध हैं वे एक कविता में उजागर हो गए। 'आम के पत्ते' में तो निर्जीव में वस्तुओं पर लिखी गई अनेक सजीव कविताएँ उपस्थित हैं। तो मैं कहूँ कि कविता लिखकर सचमुच ही मुझे बहुत सुख मिला है। इसीलिए तो जब भी अवसर मिलता है, मैं कविताएँ लिखता हूँ। कविता ही है कि वह मेरी अभिव्यक्ति बन जाती है और ऐसा विश्वास है कि वह अनेक पाठकों से जुड़ कर उनकी संवेदना को भी जगाएगी और उन्हें भी वैसा ही सुख देगी जैसा सुख मेरे चित्त को मिलता रहा है। यही तो है जो चित्त के द्वार खोलती है और भीतर से समृद्ध करती है।

**अंतर्वस्तु, शिल्प और अंदाज़-ए-बयाँ में वह क्या चीज़ ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है जो आपकी निगाह में ठहरती है?**

कविता तो मुख्यतः हमारे भीतर बसे हुए भाव जगत को रूपायित करने के लिए ही लिखी जाती है और वह केवल सुन्दर या सुन्दर शब्दों का पुँज नहीं है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जब मेरे भीतर उमंगित होती हुई संवेदना, अनुभूति या चेतना अपने को व्यक्त करना चाहती है तब वह स्वयं अपने अनुकूल शब्दों, प्रतीकों और बिम्बों का चुनाव करती चलती है। मेरे सारे ही लेखन का यह स्वभाव रहा है कि पहले से योजना बनाकर पूरी कविता या पूरी कहानी या पूरा उपन्यास नहीं लिखता। मेरे भीतर जो कथ्य छनकर आता है वह लिखने के क्रम में रूप धारण करता चलता है। एक के बाद एक आयाम उसमें स्वतः जुड़ते चले जाते हैं लेकिन यह बात सत्य है कि यदि कोई कविता कविता है तो कथ्य को अपने में रोपाई करने के लिए काव्यात्मक भाषा में ढलना ही होता है। सपाट भाषा में सपाट ढंग से कोई बात कह दी जाए तो वह बात तो होगी लेकिन वह कविता नहीं होगी। कविता वह होती है जिसके भीतर से अनेक संकेत फूटते हैं।

**कभी सपाटबयानी भी एक मूल्य हुआ करती थी। कविता की निर्मिति में उसका योगदान होता था। नामवरजी जैसे आलोचकों ने भी कविता में सपाटबयानी को चिन्हित किया है। एक दौर में इसी सपाटबयानी से एक से एक बड़ी कविताएँ भी सम्भव हुईं तो इस बारे में आपके क्या अनुभव रहे?**

सपाटबयानी की चर्चा एक विशेष समय में हुई थी जब लोगों को लगा कि कविता अनेक जटिल प्रयोगों, खण्डित बिम्बों, दुरूह भाषा में उलझकर पाठकों के लिए असंप्रेष्य बनती जा रही है और कुछ जटिल कवियों या आलोचकों के बीच प्रशंसित होकर भी अनेक पाठकों से दूर होती जा रही है। तब उसके विरोध में कहा गया कि कविता में सपाटबयानी होनी चाहिए लेकिन सपाटबयानी का अर्थ यह नहीं है कि कविता के भीतर भाव, संवेदना आदि की गहरी उपस्थिति ही न हो। एक तरह से सपाटता को सहजता के अर्थ में लिया जाए तब तो ठीक है लेकिन सतही कथन के रूप में यदि वह है तो कविता ही नहीं है और अब तो सपाटबयानी का प्रयोग भी नहीं होता, प्रयोग सहजता का ही होता है।

जहाँ तक मैं अपनी कविताओं की बात करूँ तो मेरी कविताओं में कथन या कथ्य की उलझन नहीं है। चाहे भाषा हो, भाव हो, सभी बहुत काव्यात्मक रूप में चलते रहते हैं और मैं गर्व से कहता हूँ कि वे पाठकों को बहुत गहरे प्रभावित करते हैं। एक छोटी-सी घटना सुनाऊँ। मेरे यहाँ एक पत्रकार आए। बातचीत, में उन्होंने कहा कि, "मैं कविता नहीं पढ़ता हूँ। मुझे समझ में नहीं आती। तो मैंने कहा, "अच्छा मेरी एक कविता सुनिए।" उसे सुनकर वे उछल पड़े और कहने लगे, "अरे यह तो मेरी समझ में आ गई।" कहने का अर्थ यही कि अंततः कविता का प्रयोजन और उसका उद्देश्य ही है कि वह पाठक और भावक की समझ में आए।

जब कोई लेखक लेखन शुरू करता है तब वह सोचता है कि मैं कविता लिखूँगा या अन्य विधाओं में लिखूँगा यानी वो पहले से तय कर लेता है कि कौन-सी विधा उसका मार्ग है। मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। जो कुछ हुआ, अपने-आप सहज भाव से हुआ। यह भी होता है कि कुछ लोग औरों की देखा-देखी कविता शुरू करते हैं लेकिन जब मैं प्राइमरी में पढ़ता था तभी मेरे मन में कविता लिखने की इच्छा जाग पड़ी। जब मैं अपनी पाठ्यपुस्तक की कविताएँ पढ़ता था तो सहज ही मन कहता था कि काश मैं भी ऐसा कुछ लिख पाता! तो किसी दिन कुछ कविता के रूप में लिख ही दिया, यह क्रम चल पड़ा और अब तक चलता रहा है।

लेखक जब बहुत वरिष्ठ हो जाता है तब वह बैठकर सोचता नहीं है कि मैं किस विषय पर कहानी लिखूँ या किस विषय पर कविता या किस विषय पर अन्य विधा में लिखूँ। इन विधाओं की रचनाएँ स्वतः ही अपने समय से जुड़ती चली जाती हैं। सन् 50 तक तो सोचा भी नहीं था कि मैं कहानी लिख लूँगा लेकिन स्वतः कहानी लिखने की इच्छा मेरे मन में जाग गई। उपन्यास लिखूँगा, कभी सोचा नहीं था लेकिन एक समय ऐसा आया कि मुझे महसूस हुआ कि गाँव के जीवन पर जो मैं खण्ड-खण्ड कहानी या कविताएँ लिख रहा हूँ उसे क्यों न समग्र भाव से व्यक्त किया जाए और इस तरह 'पानी के प्राचीर' की रचना हुई। तो एक वरिष्ठ लेखक का मन ऐसा हो जाता है कि उसके भीतर जो तरह-तरह के यथार्थ व्याप्त हैं, वैसे ही अपनी विधाएँ चुन लेते हैं। मुझे तो कभी यह सोचना ही नहीं पड़ा कि मैं तैयारी करके निबन्ध लिखूँगा, संस्मरण लिखूँगा या अन्य विधाओं में लिखूँगा। यह सब स्वयं अपना मार्ग निर्धारित कर लेते हैं। मैंने कई विधाओं में लिखा है किन्तु यह सच है कि कविता और कथा ही मेरी केन्द्रीय विधाएँ हैं।

**अक्सर लेखकों से यह जानने की इच्छा होती है कि उनके लिखने-पढ़ने का समय कब होता है, उनकी रचना-प्रक्रिया का ढंग क्या होता है? आप किस समय लिखते-पढ़ते हैं?**

रचना प्रक्रिया के साथ यह सवाल भी जुड़ा चलता है कि कोई कैसे कब किस तरह लिखता है? यह सही है कि सबका लिखने का अलग-अलग ढंग होता है, अलग-अलग समय होता है। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैंने मुख्यतः सुबह के समय ही लिखा है। सौभाग्य से मुझे शिक्षक की नौकरी मिली जिसमें अपने लिखने-पढ़ने के लिए काफ़ी समय मिल जाता रहा है। मुझे भी लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश प्राप्त होता था। मैं मुख्यतः सुबह को ही लिखता रहा हूँ। हाँ, जिस दिन 10:00 या 11:00 बजे के आस-पास क्लास होती थी, उस दिन नहीं लिखता था। मेरी लेखनी तो सुबह को एक-दो घंटे ही चलती थी पर लिखने के लिए तो मुझे पूरा ख़ाली दिन चाहिए होता था यानी जिस दिन पूरी छुट्टी होती थी उस दिन मैं लिखता था। मेरे लिखने के लिए सन्नाटा नहीं चाहिए था। कुछ लोग तो रात के सन्नाटे में लिखते हैं लेकिन मैं जब लिखता हूँ तब



AUGUST_2023 Folder.indd 25 7/28/2023 1:36:14 PM

यह तो आवश्यक होता ही है कि कमरे में सन्नाटा हो पर बाहर दुनिया की चहल-पहल मची हो। मेरे लिखने का ढंग यह भी रहा है कि मैं एक साथ बहुत नहीं लिखता। एक बार में तीन-चार पृष्ठ लिखता हूँ, फिर छोड़ देता हूँ, फिर लिखता हूँ, फिर छोड़ देता हूँ। जहाँ तक मुझे ज्ञात है कि बहुत-से लोग अपनी रचना का पूरा का पूरा ड्राफ़्ट बना लेते हैं और उसके अनुसार लेखन करते रहते हैं। मैं ऐसा नहीं कर पाता। मैंने कई बड़े-बड़े उपन्यास लिखे हैं लेकिन लिखने से पहले उनकी कोई रूपरेखा नहीं बनाई। जिस लोक को मैं रचना चाहता हूँ वह अरूप और गड्ड-मड्ड रूप में मेरे भीतर पड़ा होता है और मैं उसके यथार्थ के जंगल में कहीं से बैठ जाता हूँ और फिर लिखने के क्रम में रास्ते से रास्ता जुड़ता चला जाता है। आगे क्या हो सकता है लिखने के क्रम में क़लम ही सूँघती चलती है। कई बार तो ऐसा होता है, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की होती है। वह दृश्य सहज भाव से केन्द्र में आ जाता है।

**कितने ड्राफ़्ट में आप कोई रचना पूरा करते हैं?**

मैं तो बस एक ही बार लिखता हूँ। हाँ, उसे दोहराने के क्रम में जहाँ कहीं आवश्यक होता है कुछ फेरबदल कर लेता हूँ।

**उन चरित्रों की क्या आपको याद है जो आपके उपन्यास और कहानियों में आए हैं और जो आपके भीतर अभी भी पूरी तरह गुंजायमान हों, उनकी कोई याद आपके भीतर रची-बसी हो?**

सोचना पड़ेगा क्योंकि मेरे सभी उपन्यासों में कोई-न-कोई पात्र ऐसा आया है जो अपने दर्द से दूसरों में दर्द जगाता है। जैसे मेरा उपन्यास 'अपने लोग' है। उसमें एक पागल पात्र है, नाम भूल रहा हूँ। शायद उमेश नाम है। वह मेरा परम मित्र रहा है। हम दोनों में प्रगाढ़ मैत्री थी। जब मेरा प्रतिनिधि प्रमोद अपने पिता के आग्रह पर दिल्ली की नौकरी छोड़कर गोरखपुर के एक कॉलेज में जाता है तब देखता है कि उसका दोस्त उमेश तो पागल हो गया है। वह प्रमोद के यहाँ आता है लेकिन चारों ओर मारा-मारा फिरता है। प्रमोद को अतीत के दिन याद आते हैं और उमेश का दर्द जैसे उसका अपना दर्द बन जाता है। उसे पता चलता है अत्यंत प्रतिभाशाली उमेश पागल इसलिए हुआ है कि रेलवे की नौकरी में उसकी प्रतिभा की घोर उपेक्षा हुई जिस रेलवे की पत्रिका के सम्पादन का अधिकारी वह था, उसे किसी अत्यंत योग्य व्यक्ति को दे दिया गया। उसके पागलपन का एक और कारण उसका दांपत्य जीवन भी था। धोखे से इतने सुन्दर लड़के की शादी चुपचाप एक नेत्रहीन लड़की से कर दी गई थी और वह चुपचाप अपने अंदर यह दुख ढोता रहा और धीरे-धीरे असंतुलित होता गया। ऐसे अन्य उपन्यासों में भी कई स्त्रियाँ हैं, कई अभिशप्त वर्ग के लोग हैं जिनके दुख के साथ चलता हुआ उन्हें अपने कथा-संसार में रूपायित करता रहा हूँ।

अक्सर लेखक परकाया प्रवेश में पटु होते हैं। कहा जाता है कि वे दूसरे के दर्द की कहानी शायद ज़्यादा अच्छे ढंग से सुना सकते हैं लेकिन अक्सर यह भी कहा जाता है कि लेखक के रचना-संसार में कहीं-न-कहीं वह स्वयं विद्यमान होता है। किसी-न-किसी विचार, दृष्टि या चरित्र के रूप में। इस दृष्टि से मैं उनसे पूछता हूँ कि अपने कथा-संसार में आपने अपने-आपको कितना जिया है। तो मेरे कथा-संसार में जो भी पात्र हैं, वे मेरे गाँव या शहर के जाने-पहचाने लोग हैं और कई उपन्यासों में किसी रूप में मैं भी आया हूँ जैसे 'जल टूटता हुआ' में सतीश के रूप में मेरे बड़े भाई साहब हैं और उनके छोटे भाई चन्द्रकान्त के रूप में काफ़ी दूर तक मैं हूँ। 'अपने लोग' में प्रमोद के रूप में भी मैं काफ़ी दूर तक हूँ। गुजरात पर आधारित उपन्यास 'दूसरा घर' मैं गौतम के रूप में तो हूँ ही और भी उपन्यासों में कुछ-कुछ मात्रा में मेरी उपस्थिति देखी और महसूस की जा सकती हैं।

**गाँधी जी कहते थे 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाने रे।' क्या लेखक को वैष्णव जन होना चाहिए?**

विचारधाराएँ तो अनेक हैं। चाहे वह सनातन धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म हो या मार्क्सवाद हो, सबके अनेक-अनेक तरह के विचार हो सकते हैं-- समाज को लेकर, लोक कल्याण को लेकर तरह-तरह का चिन्तन हो सकता है लेकिन सारे वैविध्य के बावजूद सबका मूल्य तो मनुष्य का कल्याण ही है न, जैसाकि तुलसीदास ने कहा है 'परहित सरिस धरम नहिं भाई'। कबीर ने 'ढाई आखर' कहकर प्रेम की परिभाषा की। अन्य विचारकों ने भी मानव मूल्यों की बात कही है। पीर पराई जानना हर विचारधारा का मूल है, की वर्ड है। कोई भी धर्म या विचारधारा मनुष्य के अहित की बात नहीं करती है। हाँ, यदि विकृत मस्तिष्क के लोग इन विचारधाराओं का दुरुपयोग करते हैं और उसके मूल को नहीं समझते तो बात और है! ❑

# जीवन लय पर...

**पृष्ठ 19 का शेष**

हैं। झरे हुए फूलों की हँसी में नहाना चाहते हैं और नई धूप में जागते हुए से उत्सव को जीना चाहते हैं। 'हवा' कविता में वे कछार में जिए गए वसंत में खो जाते हैं। अनगिन स्मृति-चित्र उनके मन से झरने लगते हैं।

प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति का वही रूप व्यक्त हुआ था जिसे मिश्रजी ने देखा और भोगा था। बाद की कविताओं में ज्यों-ज्यों कवि का भावबोध जटिल होता चला गया, त्यों-त्यों प्रकृति प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त होने लगी और अपने समय की जटिलताओं से अवगत कराने लगी। उनके परवर्ती काव्य-संग्रहों में भी प्रकृति की उपस्थिति बनी हुई है पर पहले से कुछ कम हुई है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है, "मेरी परवर्ती कविताओं में प्रकृति और प्रेम की उपस्थिति कम होती गई है, किन्तु ग़ायब नहीं हुई। दरअसल शुरू के दौर में प्रकृति और प्रेम पर इतनी अधिक कविताएँ लिखी हैं कि बाद में उनका उसी रूप में बना रहना संभव नहीं रहा।" 'बाहर तो वसंत आ गया है' मिश्रजी की प्रकृतिपरक रचनाओं का चयन है। प्रस्तुत संग्रह, पाठकों को समर्पित है- इस

उम्मीद के साथ....

'हिल रही है खिड़कियाँ, कुछ साँस में महका हुआ है
देखिए तो कौन आया, एक बनजारिन हवा है
सुन सको तो सुनो ख़ुद के शोर से बाहर निकल कर यह ज़ुबाँ है
खुशबुओं की, यह गुलों की दास्ताँ है।' ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 26 7/28/2023 1:36:14 PM

# प्रारब्ध कर्मों का शुभ फल हैं मेरे पिता

**पापा का सुबह का समय विशेषकर सृजनात्मक लेखन का रहता था। कविता, गीत तो दिनभर गुनगुनाया करते थे, आज भी गुनगुनाते हैं। अभी हाल ही में जब पापा के कूल्हे की हड्डी की बहुत गम्भीर सर्जरी हुई तो ऑपरेशन के बाद आईसीयू से जब कक्ष में लाया गया तो होश आते ही अपनी कविता गुनगुनाने लगे। उस समय यह ज्ञात हुआ कि कविता में कितनी शक्ति है! अवसाद के क्षणों में भी संजीवनी की ताक़त है कविता में।**



**स्मिता मिश्र**

*ई-मेल : smita.sportskreeda@gmail.com*

यह मेरे प्रारब्ध कर्मों का शुभ फल ही है जिनके कारण रामदरश मिश्र की पुत्री के रूप में जन्म लेने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। पापा को क़लम के साथ देखा और माँ सरस्वती मिश्र को रसोईघर में कलछी चलाते हुए पापा की कविता सुनते हुए देखा। माँ-पिताजी की यह प्रारम्भिक छवियाँ मेरी स्मृति में हैं। बचपन में ही साहित्यिक परिवेश से हम सब भाई-बहन परिचित होते चले थे। घर में पुस्तकें, पुस्तकें और पुस्तकें ही देखी। बचपन से ही अपने घर में सभी विचारधाराओं के लेखकों, चिन्तकों, शोधार्थियों और प्राध्यापकों का आना-जाना देखा है। इसलिए साहित्य जगत में बेशक वे शीर्ष आलोचक रहे हों, जनवादी कवि हों, प्रयोगवाद-तार सप्तक के कवि रहे हों पर हमारे लिए सभी अंकल, चाचाजी, ताऊजी ही थे। आज के शीर्षस्थ प्रकाशकों को पैदल या साइकिल से घर में आते देखा और पापा से कोई भी पुस्तक प्रकाशन हेतु निवेदन करते देखा। इसलिए आज भी सभी को हम अत्यंत आत्मीय दृष्टि से ही देखते हैं और आत्मीय संबोधनों से ही पुकारते हैं।



*पिता रामदरश मिश्र के साथ पुत्री स्मिता मिश्र*

जहाँ तक मुझे याद पड़ता है घर में सबसे छोटी होने के कारण मैं माता-पिता, भाई-बहन सबकी लाडली रही। पापा की तो मैं पिछलग्गू ही रही। जहाँ-जहाँ जाते मैं उनका कुर्ता पकड़े-पकड़े साथ-साथ चलती। माँ-पिताजी का साहित्यिक संस्कार सभी भाई-बहनों में रहा लेकिन मैंने तो पिताजी की ही लकीर पकड़ी। पिताजी हमेशा कहते रहे कि मैंने पढ़ाई-लिखाई में किसी और सन्दर्भ में माँ पिताजी को तंग नहीं किया। पढ़ाई-लिखाई में ईमानदारी से मैं संलग्न रहीं। पिताजी कहते हैं कि मैं अपने स्वभाव के भोलेपन से सबको प्रसन्न रखती रही। मुझे याद नहीं कि माँ-पापा ने कभी मेरी पिटाई की हो, हालाँकि पापा बताते हैं कि उनकी बचपन में पिटाई अवश्य हुई। उसके पीछे की कहानी यह है कि पापा बचपन में स्कूल से घबराते थे। वे स्कूल नहीं जा रहे थे तो दादी पापा को स्कूल जाने के लिए धमका रही थी। फिर भी पापा नहीं माने तो उन्होंने हँसुआ उठा लिया और पापा ने डर के मारे जैसे ही अपना बायाँ हाथ उठाया तो वह हँसुआ पापा की कलाई में धँस गया। दादी तो रो पड़ी लेकिन हँसुए की चोट ने पापा को विद्यालय जाने के लिए प्रेरित कर दिया। इतना ही नहीं हँसुए का निशान पिताजी की पहचान का निशान भी बन गया। किसी भी सरकारी काम का सरकारी



AUGUST_2023 Folder.indd 27 7/28/2023 1:36:14 PM

काग़ज़ के सन्दर्भ में यह पहचान आज भी काम आता है। इस निशान पर उन्होंने कविता भी लिखी 'पहचान'।

पापा का सुबह का समय विशेषकर सृजनात्मक लेखन का रहता था। कविता, गीत तो दिनभर गुनगुनाया करते थे, आज भी गुनगुनाते हैं। अभी हाल ही में जब पापा के कूल्हे की हड्डी की बहुत गम्भीर सर्जरी हुई तो ऑपरेशन के बाद आईसीयू से जब कक्ष में लाया गया तो होश आते ही अपनी कविता गुनगुनाने लगे। उस समय यह ज्ञात हुआ कि कविता में कितनी शक्ति है! अवसाद के क्षणों में भी संजीवनी की ताक़त है कविता में। पापा की कविता-कहानी हम भाई-बहनों के लिए केवल साहित्यिक संस्कार भर तक न थी बल्कि हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ती का भी साधन थी। जब हमें कुछ पैसे चाहिए होते थे तो हम पिताजी के पास क़लम-काग़ज़ लेकर बैठ जाते और उनसे कोई कविता लिखवा लेते। पापा बोलते जाते और हम स्पष्ट लेखनी में लिखते जाते। जब वह कविता छप कर आती तो उस मानदेय में से हमें भी कुछ मिल जाता। सच में पापा के दिए उन कुछ पैसों से हमें जो अपार आनंद मिलता उसका रोमांच अभी भी होता है।



*रामदरश मिश्र, पत्नी सरस्वती मिश्र के साथ 75वीं वैवाहिक वर्षगांठ के अवसर पर*

पापा से तो मैं अभिन्न भाव से जुड़ी रही। मेरे जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर पिताजी साथ रहे हैं। मेरे पाँव में बचपन में कुछ परेशानी थी। वे दिन सोचकर पिताजी कहते हैं कि उन्हें बहुत अच्छा लगता था जब वे मुझे साइकिल पर बैठाकर मॉडल टाउन से करोल बाग़ ले जाते और मेरे पैर का उपचार कराते। मैं चुपचाप साइकिल पर पापा के आगे बैठ जाती और यात्रा का आनंद लेती। मँझले भाई शशांक मिश्र के प्रयास से मैंने भी छत्रसाल स्टेडियम में बास्केट बॉल खेलने जाना शुरू किया। प्रत्येक कक्षा में अच्छे अंक प्राप्त होते रहे। पढ़ाई के साथ-साथ मेरी स्पोर्ट्स की यात्रा भी चलती रही। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नेट बॉल और राष्ट्रीय स्तर पर बास्केट बॉल प्रतियोगिता में भाग लिया। पिताजी साहित्य में निमग्न रहे लेकिन मेरे जीवन की गतिविधियों से भलीभाँति अवगत रहते थे। सीमित संसाधनों में भी मेरी स्पोर्ट्स की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करते रहते। मुझे याद आता है वह दिन जब मेरी क्रॉस कंट्री की अभ्यास-दौड़ थी। मैं आठवीं कक्षा में थी। दिल्ली यूनिवर्सिटी से छत्रसाल स्टेडियम तक की इस दौड़ में स्टेडियम के सभी खेलों के खिलाड़ियों को भाग लेना था। यह मेरा दौड़ का पहला अनुभव था। मैंने पापा और माँ को कहा था कि आप भी मेरी दौड़ को देखने आना। इसलिए दौड़ते हुए मेरा ध्यान दौड़ पर कम और माँ-पापा को देखने में ज़्यादा था। दौड़ते-दौड़ते मैंने देखा कि मम्मी-पापा दोनों सड़क के किनारे खड़े मेरी हौसला अफ़ज़ाई के लिए खूब ज़ोर-ज़ोर से ताली बजा रहे थे। यह मेरे लिए अनोखा अनुभव था और फिर मैं प्रसन्न होकर इतनी तेज़ी से दौड़ी कि कई लोगों को पछाड़कर तीसरे स्थान पर आ गई।

मेरे बड़े भाई स्वर्गीय हेमंत मिश्र और छोटे भाई विवेक मिश्र राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की पढ़ाई कर थिएटर और फ़िल्मों से जुड़ गए। मँझले भाई और हमारे घर की केन्द्रीय धुरी शशांक मिश्र बैंकिंग के क्षेत्र में चले गए। बड़ी बहन अंजलि तिवारी हमारे जीजाजी अश्विनी तिवारी की तबादले की नौकरी के कारण देश के तमाम भागों में घूमती रहीं। मैं ही माँ-पापा के पास अभिन्न भाव से जुड़ी रही। मैं लगातार अपने अध्ययन से निकलती हुई आगे बढ़ती रही। हिन्दू कॉलेज में हरीश नवल, सुरेश ऋतुपर्ण, कृष्ण दत्त पालीवाल, मान्धाता ओझा और विजय सती जैसे गुरुजनों के शिष्यत्व का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। पापा ने देखा कि मेरी रुचि साहित्य में बनती जा रही है और पापा को लगा कि उनकी रचनाओं को सम्भालने वाली उसकी गहरी पहचान करने वाली कोई संतान हो सकती है तो वह मैं ही हूँ। मैं उनके विश्वास पर कितनी खरी उतरी हूँ, यह तो मैं नहीं जानती लेकिन यह अवश्य है कि मैंने पिताजी की विविध विधाओं की कृतियों का सम्पादन किया है। उनकी पहचान और सुरक्षा की व्यवस्था की है। इसलिए साहित्य जगत या पत्र-पत्रिकाओं को आज पिताजी के सम्बन्ध में जो कुछ जानना होता है, उसके लिए मुझसे सम्पर्क किया जाता है। आज अनेक साहित्यकार पापा से मिलना चाहते हैं और इन सबके प्रबन्धन का दायित्व मेरा ही है।

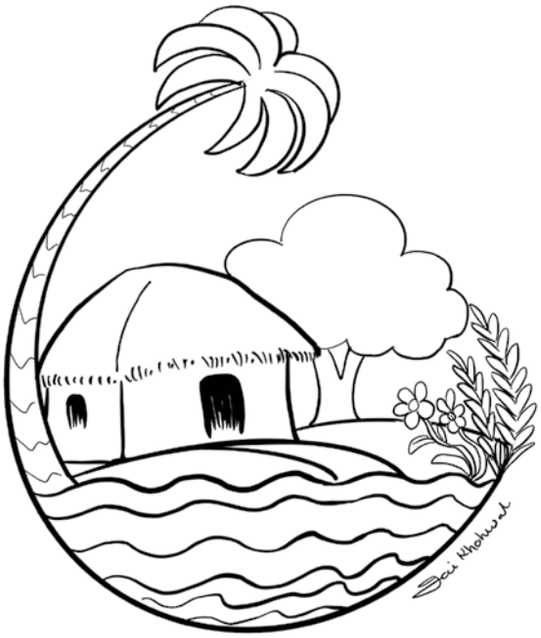
यह सन्दर्भ आज इसलिए प्रसन्न भाव से व्यापक हो रहा है कि 15 अगस्त 2023 को पिताजी 99 वर्ष पूरे कर सावें में प्रवेश करेंगे यानी कि 15 अगस्त के बाद शताब्दी वर्ष प्रारम्भ होने वाला है। लोगों को लग रहा है कि पिताजी सम्भवतः हिन्दी के पहले साहित्यकार हैं जिनके जीते जी उनकी शताब्दी मनाने का अवसर आयोजित हो रहा है। इस कारण अनेक पत्रिकाओं के लिए पिताजी पर लिखने के लिए मैं विषम परिस्थिति में भी बहुत व्यस्त हो गई हूँ। आजकल जहाँ एक ओर उल्लास प्रतीत हो रहा है, वहीं परिवार में चिन्ता के घने बादल भी छाए हैं। पिताजी के हिप बोन फ्रेक्चर से उबरने के बाद माँ का स्वास्थ्य अत्यंत संकटपूर्ण चल रहा है। मैं एक अस्पताल से दूसरे अस्पताल, एलोपैथी से होम्योपैथी और ईश्वर की शरण में दौड़ रही हूँ। पिताजी के पाठकों, शुभचिन्तकों से भी यह आग्रह करूँगी कि मेरी दुआ में वे अपनी दुआ मिला दें ताकि शताब्दी वर्ष मैं माता-पिता दोनों की उपस्थिति में मना सकूँ। ❑

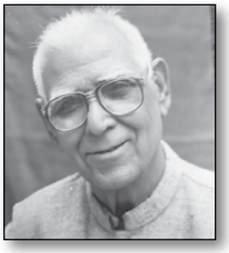


AUGUST_2023 Folder.indd 28 7/28/2023 1:36:15 PM

# तेरी दुनिया बीच

**रामदरश मिश्र**





*ई-मेल : smita.sportskreeda@gmail.com*

(एक)

तेरी दुनिया बीच क्या-क्या हो रहा है तू कहाँ है?
रक्त से जग को मनुष्य भिगो रहा है तू कहाँ है?

तूने दी थी प्रेम की धरती मनुज की ज़िन्दगी को
किन्तु वह तो बीज विष के बो रहा है तू कहाँ है?

हँस रहा है झूठ का दानव दलों के साथ होकर
सत्य एकाकी डगर पर रो रहा है तू कहाँ है?

भोग करते हैं बिलासी महल से अपने घरों में
दीन बचपन अश्क से मुँह धो रहा है तू कहाँ है?

वे बटोरे जा रहे हैं माल क्या-क्या बेतहाशा
भार उनका वह बेचारा ढो रहा है तू कहाँ है?

दुर्दशा अपने सृजन की देख कर भी न जाने क्यों
चुप है तू लगता कि ख़ुद में सो रहा है तू कहाँ है?

(दो)

मेरे प्यारे गाँव ये तेरी कैसी अद्‌भुत-सी माया है
तुझको छोड़ चला तो देखा तू भी साथ चला आया है

रह-रह मन में हँस पड़ते हैं मौसम, ऋतुएँ त्योहारी दिन
जिनके साथ भरा मस्ती से बारंबार गीत गाया है

तपन जेठ की जब-जब लगती तब-तब मैं अनुभव करता हूँ
मेरे ऊपर ख़ुद को फैलाए-सी बरगद की छाया है



AUGUST_2023 Folder.indd 29 7/28/2023 1:36:16 PM

सन्नाटे में कल-कल की जब मीठी-मीठी ध्वनि होती है
तब लगता मेरे भीतर नदिया का पानी लहराया है

कभी भटक जाते हैं जब पग रंगीनी से भरी फ़िज़ा में
तब लगता है मेरे मिट्टी वाले घर में गुहराया है

ताल-तलैया बाग़-बग़ीचे, खेतों में लहराती फ़सलें
कितनी ही तेरी छवियों को हरदम अपने संग पाया है

शहर में रहना मजबूरी है जीवन-यापन की ख़ातिर, पर
मेरे कथा-काव्य को प्रियवर तू अतिशय गहरे भाया है

जब-जब लगा घाव है कोई अपने से लगते लोगों से
तब-तब ममता-भरे करों से माँ ने मुझको सहलाया है।

(तीन)

जाने हुआ क्या, ख़ुद को था मैंने भुला दिया
तूने तो आज मेरी ख़ुदी करे बुला दिया

लोगों को दुखी देखकर आँखें थीं सुन्न-सी
गाकर के गीत दर्द का तूने रुला दिया

रह-रह के सालती थीं ज़माने की हलचलें
आती नहीं भी नींद पर तूने सुला दिया

था जेठ की तपन में बन्द-सा शरीर, पर
सावन की हवाओं-सी आ तूने झुला दिया

पिचके हुए थे गाल निराशा में जनों के
तूने उन्हें गेंदे के फूल-सा फुला दिया
तू कौन है देखा नहीं, महसूसता तो हूँ
तूने मेरे हर ताप पर पंखा डुला दिया।

(चार)
चला मैं बहुत ना समझ पा रहा हूँ
कहाँ से चला औ कहाँ जा रहा हूँ

नहीं फ़िक्र थी कल क्या होगा सफ़र में
निरंतर समय संग चलता रहा हूँ

दिया दर्द काँटों ने फूलों ने सौरभ
मगर गीत दोनों के संग गा रहा हूँ

प्रभा बाँट कर अपनी मन नाचता है
कभी ख़ुद के तम से मैं टकरा रहा हूँ
तपन जेठ की जब है लगती तपाने
घटा बन के ख़ुद अपने पर छा रहा हूँ।

तुझे है किया प्यार मैंने निरंतर
मेरी ज़िन्दगी मैं तुझे भा रहा हूँ

अभावों में भी हँसती देखी है दुनिया
उसे आज तो देख घबरा रहा हूँ

है इंसानियत हो रही क्षीण, फिर भी
सतत देख मैं उसका सपना रहा हूँ।

(पाँच)

इधर आ रहे हैं उधर जा रहे हैं
न मालूम फिर भी किधर जा रहे हैं

पता है ना उनको कि मंज़िल कहाँ है
कभी इस, कभी उस डगर जा रहे हैं

लिए गाँव का हित चले गाँव से पर
शहर ले के दिल में शहर जा रहे हैं

कहा वोटरों से तुम्हें चैन दूँगा
मगर उन पर ढाए क़हर जा रहे हैं

ग़रीबों के दुख से न आँखें मिलाते
अमीरों के आगे ठहर जा रहे हैं

न सोचो कि वे आ रहे देने को कुछ
बटोरे हुए माल घर जा रहे हैं। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 30 7/28/2023 1:36:16 PM

कहानी

# एक टुकड़ा ज़िन्दगी

**"इसे ख़याल रखना कहते हैं आप! मुझे 'हैण्डीकैप्ड' बनाकर छोड़ गई। रोज़ गरम-गरम रोटी, ताज़ा सब्ज़ी, छौंक लगी दाल—यह नहीं सोचा कि ऐसी आदत बना रही हूँ तो न जाऊँ, बाद में कितनी परेशानी होगी। अब ठंडे टिक्कड़ तोड़ते हुए कितनी तकलीफ़ होती है, जानते हैं आप! कुछ नहीं जानते आप।" लक्ष्मी बाबू के उलाहने भरे स्वर में तकलीफ़ उभर आई थी और वह अपनी नाराज़गी दिखाने के लिए 'तुम' से 'आप' पर उतर आए थे।**



**जितेन ठाकुर**

*ई-मेल : jitenthakurddn@gmail.com*

जिस समय मैं लक्ष्मी बाबू के यहाँ पहुँचा, वह लॉन में बैठे हुए कोई किताब पढ़ रहे थे। दूर से चीज़ें सामान्य लगी थीं पर पास पहुँचने पर लक्ष्मी बाबू का कान्तिहीन चेहरा, बढ़ी हुई दाढ़ी और सलवटों से भरी क़मीज़ ने मुझे हालात समझा दिए थे। यह स्थिति स्वाभाविक भी थी। लक्ष्मी बाबू मुझे देख कर जबरन मुस्कुराए और कुछ अजीब-सी व्यंग्य भरी मुद्रा बनाकर बोले—

"आइए जितिन बाबू आइए! आप भी रस्म अदायगी के लिए आ ही पहुँचे।"

मैं हतप्रभ-सा ठिठका रह गया। क्या उत्तर दूँ! ऐसे बात करना लक्ष्मी बाबू की प्रकृति में कभी नहीं रहा। मुझे रुक गया देख, सामने कुर्सी से अख़बार उठाकर लॉन की घास पर रखते हुए फिर बोले—

"आइए न! बैठिए!" फिर पहले ही की तरह जबरन मुस्कुराए। बोले, 'आप' सोचते होंगे मैं हिल गया हूँ। पत्नी के गुज़र जाने से विक्षिप्त हो गया हूँ। यही न! पर कुछ नहीं हुआ मुझे। सुबह भरपेट स्वादिष्ट नाश्ता किया, फिर गाने सुने और अब यह बेहतरीन उपन्यास पढ़ रहा हूँ। आपने पढ़ा है यह उपन्यास?" उन्होंने उपन्यास का नाम बताया, पर अपनी सोच में डूबे होने के कारण मैं सुन नहीं पाया।

मैं समझ गया कि लक्ष्मी बाबू मुखौटा पहने हुए बैठे हैं और अपनी नक़ली मुस्कान की तरह ही सामान्य दिखने की बनावटी कोशिश में अजीबोग़रीब हरकतें कर रहे हैं। लक्ष्मी बाबू के पास इतनी देर से पहुँच पाने के लिए मैं पहले से ही कुछ शर्मिंदगी अनुभव कर रहा था, पर अब तो अपराधबोध जैसा भी कुछ भीतर-ही-भीतर पनपने लगा था।






AUGUST_2023 Folder.indd 31 7/28/2023 1:36:16 PM

मैं बेटे के पास बंगलौर में था और लक्ष्मी बाबू की पत्नी, यानी क्रान्ति भाभी के निधन की सूचना भी मुझे काफ़ी देर बाद ही मिल पाई थी। उसके बावजूद भी तैयारी करते, टिकट मिलते और पहुँचते हुए काफ़ी समय निकल गया था। आज क्रान्ति भाभी को गए हुए महीने से ऊपर हो चुका था। हर सुख-दुख में साथ खड़े रहने वाले हम दोनों परिवार विपत्ति के इस भयानक दौर में साथ नहीं थे। बस यही चीज़ मुझे अपराधबोध से भर रही थी।

पिछले बत्तीस वर्ष हमने और हमारे जवान होते बच्चों ने साथ-साथ बिताए थे पर जिस समय लक्ष्मी बाबू को हमारी सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, हम वहाँ नहीं थे।

दरअसल, इस कॉलोनी में सबसे पहले हमारा और लक्ष्मी बाबू का मकान ही बना था। आस-पास दूर-दूर तक कोई बस्ती नहीं थी। यहाँ तक कि बिजली और पानी की लाइन भी नहीं बिछी थी। यहाँ आ जाने की हमारी अपनी मजबूरियाँ थीं पर सायँ-सायँ करती अँधेरी रातों के सन्नाटे में हमें एक-दूसरे का बड़ा सहारा हुआ करता था। कोई खटका होता तो एक तरफ़ से आवाज़ लगती और दूसरी तरफ़ से टॉर्च की रौशनी आने लगती। इसी तरह हमने वह कठिन समय निकाला था। फिर कॉलोनी बसी तो बीसियों मकान बने, सैकड़ों लोग आए पर जो प्रगाढ़ सम्बन्ध लक्ष्मी बाबू के परिवार से बना रहा वह किसी और से नहीं बन पाया।

"बहुत ही दुख हुआ भाई साहब ;" आयु में कुछ बड़े होने के कारण मैं उन्हें हमेशा से इसी सम्बोधन से बुलाता रहा हूँ, "मुश्किल समय में आपके साथ खड़ा नहीं हो सका। जितना दुख भाभी के गुज़र जाने का है उतना ही दुःख इस बात का भी है।" मैंने माफ़ी माँगते हुए स्वर में कहा।

"ज़रूर दुख हुआ होगा तुम्हें। उसके रहते हुए तुम्हें पीने को चाय मिल जाती थी। अब नौकर तो है नहीं और मैं चाय बनाने के लिए उठूँगा नहीं। चाय का न मिलना तुम्हारे दुख का तीसरा कारण होगा।"

लक्ष्मी बाबू ने फिर उसी स्वर में कहा तो मैं अपने को रोक नहीं पाया और कुछ आहत स्वर में बोला–

"ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं भाई साहब! भाभीजी का यूँ अचानक चले जाना क्या सिर्फ़ चाय न मिलने के लिए ही दुख का कारण है!"

"दुख के कारण तुम ढूँढो पर मैं तो बहुत ही ख़ुश हूँ। मास्टरनी की तरह हर समय डंडा लेकर पीछे लगी रहती थी– टोका-टाकी करती रहती थी। नुक्कड़ तक भी जाना हो तो पहले कपड़े बदलो। ये टोपी क्यों पहनी हुई है, दूसरी पहनो। घर वाले स्लीपर लेकर बाहर क्यों जा रहे हो? जूतों की हालत देखो–पॉलिश भी नहीं करते। अरे भाई नुक्कड़ तक ही तो जाना है, पर जाना मुश्किल हो जाता था।"

लक्ष्मी बाबू का ऐसा स्वर मैंने कभी नहीं सुना था और न ही कभी ऐसा रूप ही देखा था। मैंने अनुभव किया कि लक्ष्मी बाबू मुझसे नज़रें नहीं मिला रहे हैं। कभी बेवजह खुली किताब को ताकने लगते, कभी फूल-पत्तियों को और कभी आसमान को, पर मेरी तरफ़ नहीं देखते।

"भाभी आपका ख़याल रखती थीं। आपकी परवाह करती थीं तभी तो ऐसा कहती थीं।" मैंने प्रतिवाद किया।

"इसे ख़याल रखना कहते हैं आप! मुझे 'हैण्डीकैप्ड' बनाकर छोड़ गई। रोज़ गरम-गरम रोटी, ताज़ा सब्ज़ी, छौंक लगी दाल–यह नहीं सोचा कि ऐसी आदत बना रही हूँ तो न जाऊँ, बाद में कितनी परेशानी होगी। अब ठंडे टिक्कड़ तोड़ते हुए कितनी तकलीफ़ होती है, जानते हैं आप! कुछ नहीं जानते आप।" लक्ष्मी बाबू के उलाहने भरे स्वर में तकलीफ़ उभर आई थी और वह अपनी नाराज़गी दिखाने के लिए 'तुम' से 'आप' पर उतर आए थे।

लक्ष्मी बाबू के लिए क्रान्ति भाभी का चले जाना कितना बड़ा आघा है– मैं जानता हूँ। सिर्फ़.खाने-पीने की बात ही नहीं, लक्ष्मी बाबू के लिए कपड़े, मोज़े, जूते, टोपी जैसी हर छोटी-बड़ी चीज़ की ख़रीद कान्ति भाभी ही किया करती थीं। लक्ष्मी बाबू को सिर्फ़ पहनने से मतलब होता। लॉन की देख-रेख, घर की साफ़-सफ़ाई, त्योहार की ख़रीद और सजावट से लेकर रसोई की हर ज़रूरत क्रान्ति भाभी की ज़िम्मेदारी में शामिल थी। आराम से पैर पसारे बैठे हुए लक्ष्मी बाबू तो महज आवाज लगा करे कहते-

"अरे भाई जितिन बाबू आए हैं, ज़रा अपने मायके से आई हुई बर्फ़ी तो इन्हें खिलाओ। जितिन बाबू को भी पता चले कि मीठा सिर्फ़ इनके बनारस में ही नहीं बनता–तुम्हारे मायके में भी बनता है।"

पर मायका कहाँ था क्रान्ति भाभी का! चौदह महीने की थीं तो माँ चल बसीं। पिता ने दूसरी शादी की तो नानी अपने साथ ले आईं। फिर जब तक नानी रहीं तब तक ननिहाल भी वही और मायका भी वही। नानी गुज़रीं तो न मायका रहा न ननिहाल। बस यही घर उनके प्राणों में बस गया। अलबत्ता लगा पाँव एक बार दहलीज़ के अंदर रखा तो फिर अपना सर्वस्व इसी घर को सौंप दिया।

"भाई साहब किसी एक को तो पहले जाना ही होता है। यही जग की रीत है। आप इस तरह टूटेंगे तो आपसे ज़्यादा भाभी को दुख होगा।" मैंने लक्ष्मी बाबू को हौसला देने की कोशिश की।

"आपसे किसने कह दिया कि मैं दुखी हूँ, बिल्कुल भी दुखी नहीं हूँ मैं। बस शिकायत है उससे। छोटे-से-छोटे फ़ंक्शन में जाती थी तो शृंगार करके जाती थी– बन-सँवर कर जाती थी और इतने लम्बे सफ़र पर सिर्फ़ चुन्नी बदल कर ही चली गई। बस चुन्नी बदली और गाड़ी में बैठ गई। फिर पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। ऐसे नाता तोड़ता है कोई!" अचानक लक्ष्मी बाबू का स्वर भर्रा गया।

"उफ़!" मैं कुछ नहीं बोल सका। बोलता भी क्या! मेरी जानकारी के अनुसार दिल का दौरा पड़ने के कारण क्रान्ति भाभी के फेफड़ों में पानी भर गया था और उन्हें साँस लेने में कठिनाई होने लगी थी।

"मैंने अस्पताल में उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा था कि कल हम वापस घर चलेंगे। वेंटिलेटर लगा था- बोल तो नहीं पाई पर सिर हिला कर उसने हामी भरी थी। उसे विश्वास था कि मैं उसे ज़रूर ठीक करके वापस ले जाऊँगा। पर जितिन बाबू.....।" लक्ष्मी बाबू अचानक चुप हो गए। मैंने महसूस किया कि वह अपने को जज़्ब करने की कोशिश कर रहे हैं। तभी उन्होंने सामने रखे टेबल पर बिछाए गए टेबल-क्लॉथ को अपनी मुट्ठी में जकड़ लिया और मैंने देखा कि उनके बदन से एक झुरझुरी गुज़र गई।

ओह! मैं समझ गया कि क्रोशिए के शानदार काम से बना ये टेबल क्लॉथ क्रान्ति भाभी का ही बनाया हुआ है। शुरुआती दिनों में क्रान्ति भाभी ने क्राफ़्ट और क्रोशिए से बहुत-सी चीजें बनाई थीं जो उनके घर में तो सजी ही हुई थीं, हमारे यहाँ भी उनकी सजावट थी। कढ़ाई, बुनाई, सिलाई का भी बहुत शौक था क्रान्ति भाभी को, पर जैसे-जैसे

**....पृष्ठ 38 पर जारी**



AUGUST_2023 Folder.indd 32 7/28/2023 1:36:16 PM

# कथा-साहित्य में उखड़े हुए लोगों का दर्द

**राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य में उखड़े हुए लोगों का दर्द है। ये लोग समाज से कटे नहीं हैं, परन्तु विषम परिस्थितियों में इनके पैरों के नीचे की ज़मीन हिल गई है और ये पैर जमाने के लिए प्रयासरत हैं, इस उम्मीद के साथ कि कल का दिन उनका होगा। राजेन्द्र यादव के कथा पात्रों की मूल नियति 'टूटना' है और यह टूटन की प्रक्रिया सम्बन्धों को सर्वाधिक प्रभावित करती है जिसके अनेक कारक होते हैं। इन कारकों में पूँजीवादी मनोवृत्ति, वर्गीय मानसिकता, आर्थिक-सामाजिक विसंगतियाँ तथा प्रेम-विवाह आदि के सन्दर्भ अधिक होते हैं जिनसे व्यक्ति का अहं आहत होता है और वह टूटन का शिकार होता है।**



**शशिकला त्रिपाठी**

*ई-मेल : shashiver9936@gmail.com*



एक विशिष्ट नाम है राजेन्द्र यादव। 'न दैन्यं न पलायनम्' का सूत्र मानो उन्हीं के लिए रचा गया हो। भेंट करने वाले किसी भी साहित्यप्रेमी के लिए उनका व्यक्तित्व अचम्भित करता। वह सोचने को मजबूर हो जाता कि प्रसिद्धि के शिखर पर बैठा यह व्यक्ति व्यवहार में इतना साधारण और निर्कुण्ठ कैसे है? न बढ़ती उम्र की ओढ़ी हुई गम्भीरता और न दम्भ की लेशमात्र अभिव्यक्ति। जिन जोखिमपूर्ण परिस्थितियों में राजेन्द्र यादव के व्यक्ति और रचनाकार की निर्मिति होती है, उसका भोक्ता भला इतना ज़िन्दादिल इंसान कैसे बन सकता है? उनके चेहरे की हँसी कभी सम्पूर्ण तोष प्रदर्शित करती तो कभी उनके फक्कड़ अंदाज़ को, जो सब कुछ झाड़ देने का साहस रखता हो। 25-30 वर्ष के व्यक्ति के साथ भी बिल्कुल हमउम्र जैसा दोस्ताना सम्बोधन, प्रतिसम्बोधन राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व का सर्वाधिक आकर्षक पक्ष रहा है। ज़ाहिर है, उनका लेखन भी उनकी भाँति विशिष्ट और प्रभावी होगा।

एक बहुचर्चित कथाकार, सम्पादक और चिन्तक की हैसियत से राजेन्द्र यादव ने साहित्य को अपनी विचारधारा और मौलिक चिन्तन से उष्णता ही नहीं दी, पाठकीय सोच को धारदार बनाने का प्रयत्न भी किया। उनके लेखन का प्रारम्भ तो कविकर्म से हुआ किन्तु जल्द ही उनकी लेखनी कहानी की ओर मुड़ जाती है और वे 'नई कहानी' आंदोलन के एक आधारस्तम्भ सिद्ध होते हैं। वे, कहानी-विधा को कविता से अधिक सशक्त और कारगर विधा मानते रहे क्योंकि उसमें सम्पूर्ण उलीच देने का उन्हें सुख मिलता है और कथ्य को बृहत्तर सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत कर सकने का संतोष भी। सम्भव है, रचनाकार की यह अपनी सीमा हो लेकिन कथाकार के रूप में राजेन्द्र यादव निस्संदेह एक श्रेष्ठ रचनाकार हैं। उनके और उनके समकालीन कहानीकारों के उत्कृष्ट योगदान से ही कहानी विधा साहित्य के केन्द्र में स्थापित हुई और लेखनी के ज़रिए ही वे और मन्नू भण्डारी पहले घनिष्ठ मित्र और बाद में जीवन सहचर बने।

नए कहानीकारों को उस समय के स्थापित साहित्यकारों के द्वारा ज़बरदस्त विरोध का सामना करना पड़ा। नई कथ्य संवेदना की तलाश और उसके अनुकूल भाषा-शैली के बदलाव को स्वीकृति देना वरिष्ठ पीढ़ी के लिए सहज नहीं था, अतएव नए कहानीकार कथा साहित्य के समानान्तर ही आलोचना विधा में भी अपनी मज़बूत उपस्थिति दर्ज कराते हैं। नवलेखन को स्थापित करने की ग़रज़ से ही राजेन्द्र यादव ने कहानी : 'स्वरूप ओर संवेदना', उपन्यास : 'स्वरूप और संवेदना', 'एक दुनिया समानान्तर', 'अठारह उपन्यास', 'प्रेमचन्द की विरासत'



AUGUST_2023 Folder.indd 33 7/28/2023 1:36:17 PM

और 'औरों के बहाने' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकें उस दौर में ही लिखे। बहुत पढ़ाकू होने के कारण विदेशी साहित्य का अध्ययन भी ख़ूब किए और कुछ के अनुवाद भी प्रकाशित हुए।

राजेन्द्र यादव में विषयों के बारे में सोचने का नायाब तरीक़ा था और किसी भी रूढ़ि और कुव्यवस्था के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का पुरज़ोर साहस; चाहे मामला सामाजिक हो या लेखन के स्तर पर। परम्परा के झरोखे से आर-पार होकर राजेन्द्र प्रचलित रूढ़ियों और असंगत मान्यताओं को स्पष्ट रूप से नकारते हैं और तार्किक ढंग से नए मूल्य को पाठकों के समक्ष रखने की कोशिश भी करते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र और सिमोन द बोउवा के प्रशंसक इस रूप में रहे कि इन लेखकों ने अपने समाज को नए ढंग से समझने-सोचने का मार्ग दिया। सच तो यह है कि राजेन्द्र यादव को जोख़िमपूर्ण ज़िन्दगी जीने में ही आनन्द आता रहा। उनके इस जुझारू व्यक्तित्व का प्रतिबिम्बन उनके रचना-संसार में विभिन्न मुद्दों पर अपने सिद्धान्त और अस्तित्व के लिए संघर्षरत पात्रों में बख़ूबी हुआ है। 'उखड़े हुए लोग' का सूरज हो या शरद, 'कुलटा' की मिसेज़ तेजपाल हों या 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' की लक्ष्मी, सबने सड़ी-गली मान्यताओं को परे फेंकने का ख़तरा उठाया है। भले ही उनका जीवन कण्टकाकीर्ण हुआ हो।

प्रेमचन्द द्वारा संस्थापित 'हंस' पत्रिका को पुनर्जीवित कर अट्ठाइस वर्षों तक राजेन्द्र यादव ने सम्पादन का गुरुतर दायित्व बख़ूबी निभाया। निश्चय ही यह कार्य कम चुनौतीपूर्ण नहीं था। जब विचार और संचार के सभी साधन सत्ता व पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हों और काग़ज़ों के दाम आकाश छू रहे हों, ऐसे समय में अपने बलबूते अर्थसंकट झेलते हुए 'हंस कहीं उड़ न जाय' की आशंका में भी नैरन्तर्य बनाए रखना सचमुच कठिन था, फिर भी उन्होंने अपनी दुर्निवार इच्छाशक्ति से सन् उन्नीस सौ छियासी से 'हंस' पत्रिका के प्रकाशन का जो बीड़ा उठाया, उससे मृत्युपर्यन्त (अक्तूबर 2014) अनवरत निभाते रहे। सम्पादकीय तेवर भी ऐसा कि धाकड़ बुद्धिजीवियों के भी दिमाग़ के सारे तार झनझना उठें। उन्होंने साहित्यिक और रूपंकर कलाओं की विसंगतियों का स्पष्ट रेखांकन ही नहीं किए, धारदार शब्दों में उन पर आक्रमण भी करते रहे। ज़ाहिर है, आक्रमणकारी को भी घायल होना पड़ता है, अतः राजेन्द्र यादव भी आरोपों से विंधते रहे, घायल हुए लेकिन विरोधों से बेपरवाह रहे। स्त्री-चिन्तन और दलित-चिन्तन को बहस में लाने का श्रेय भी उनको ही मिलता है। इन विषयों गर्मागर्म बहसें 'हंस' में सालों होती रहीं और हाशिए के ये लोग मुख्यधारा में आए भी।

राजेन्द्र के लिए लेखन ही साध्य था और साधन भी। उनके जीवन की परिधि में सिर्फ़ पुस्तकें थीं, उद्देश्य लेखन हो या अध्यवसाय। लेखन के प्रति उनकी आस्था इस तथ्य का साक्ष्य देती है कि कुछ लोग जन्मना लेखक होते हैं। लेखक भी ऐसा जिसके स्वर में हमेशा विरोध-प्रतिरोध के तीक्ष्ण शरों की मारकता बनी हुई हो। लेखन हेतु अच्छी नौकरी को दाँव पर लगाकर रोज़ी-रोटी के लिए सतत संघर्षशील रहना राजेन्द्र को अधिक मुनासिब लगा। इसी फ्रीलांसिंग में राजेन्द्रजी ने तमाम उम्र गुज़ार दी। 'शह और मात' और 'एक इंच मुस्कान' फ्रीलांसर की ही दुनिया के अंतर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष को व्याख्यायित करने वाली कृतियाँ हैं। इन उपन्यासों को 'लेखकीय दस्तावेज़' भी कहा जा सकता है। रचनाकार किन हालातों से गुज़रकर सृजन करता है, उसका निज का व्यक्तित्व लेखन के समानान्तर कैसा स्वरूप ग्रहण करता है, उसे कितनी हानियाँ सहनी पड़ती हैं तथा लेखन की अनिवार्य और आवश्यक शर्तें क्या हैं; इस पर सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है। 'एक इंच मुस्कान' राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी का संयुक्त प्रयास है जो हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य उपलब्धि भी है। इसमें पुरुष पात्र अमर का चरित्रांकन राजेन्द्र ने किया है और नारी पात्रों अमला और रंजना की चरित्र निर्मिति मन्नूजी ने की है। राजेन्द्रजी के मतानुसार, 'आत्मकथा' लिखने का कोई औचित्य नहीं होता। ईमानदार लेखक का वही व्यक्तित्व ध्यातव्य है जो साहित्य में है, जो वहाँ नहीं है, वह व्यर्थ है। हालाँकि बाद के वर्षों में उन्होंने भी आत्मकथा लिखी और वह 'मुड़-मुड़ के देख' शीर्षक से 'तद्भव' पत्रिका में किश्तों में प्रकाशित हुई।

ब्रिटिश राज्य से मिली भारत की आज़ादी लम्बे कठिन संघर्ष का गौरवपूर्ण परिणति है परन्तु, इस सुखद प्राप्ति के समानान्तर विभाजन की ऐसी भयानक दुर्घटना घटित हुई, जिससे स्वातन्त्र्य चेतना का ही स्वप्नभंग हो गया। भारतीयों की लम्बी पुरज़ोर कोशिश की नींव पर खड़ा आज़ादी का रक्तरंजित भवन स्वातन्त्र्योत्तर व्यक्ति को भावनात्मक सुरक्षा न दे सका। फलतः व्यक्ति अप्रत्याशित परिस्थितियों में हताश और दिशाहीन ही नहीं हुआ, विसंस्कृतिकरण की मार से अनेक मुद्दे पर टूटने भी लगा, विशेषकर मध्यवर्गीय व्यक्ति। इसीलिए स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में 'सृजन' की मुद्राएँ राजनैतिक मोहभंग, सांस्कृतिक संक्रमण, पारिवारिक-सामाजिक विघटन और आर्थिक मुद्दे पर आए टूटन के परिणामस्वरूप साधी गईं। स्वातन्त्र्योत्तर रचनाकार चूँकि मध्यवर्ग से ही आए थे इसलिए उनकी कृतियों में उसी वर्ग का व्यक्ति नायक (?) बनता है और उसका जीवन संघर्ष ही कथावस्तु होती है। इन रचनाकारों में कोई जड़मूल वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं थी लेकिन बदले सन्दर्भों को व्याख्यायित करने के लिए इनके पास नए कथ्य थे और अभिव्यक्ति हेतु नई तकनीक थी। बदले जीवन सन्दर्भों को रेखांकित करने वाले वैसे कई रचनाकार थे किन्तु राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश की मैत्री-संधि ने उन्हें शीर्ष पर ला दिया और वे नई कहानी के स्तम्भ रचनाकार हो गए। यद्यपि इस संधि का लाभ अस्थायी ही रहा क्योंकि रचना जगत में इस तरह की संधियाँ चिरजीवी नहीं होतीं।

राजेन्द्र यादव और उनके समकालीनों ने रचनात्मक ईमानदारी पर अत्यधिक बल दिया। इसके लिए उन्होंने प्रामाणिक अनुभूति और भोगा हुआ यथार्थ का मुहावरा दिया ताकि कथ्य 'विशिष्ट' न होकर समाज समर्थित हो। यही वह विशिष्टता थी जहाँ पुरानी पीढ़ी के प्रति विरोध ज़ाहिर किया गया। स्वानुभूति का आश्वासन देने के कारण ही राजेन्द्रजी ने नगरों और महानगरों के परिवेश को ही कथाभूमि के लिए ग्रहण किए। उनकी लेखन-यात्रा सन् 1944-45 में झाँसी से आरम्भ होकर आगरा, कलकत्ता होते हुए दिल्ली में आकर स्थायित्व ग्रहण करती है। इसलिए उनकी रचनाओं में कोई भी कथाकृति ऐसी नहीं है जिसमें ग्रामीण परिवेश और ऐतिहासिक या अनजिए पात्र हों। कई सन्दर्भों को तो वे इतनी आत्मीय संलग्नता से वर्णित करते हैं कि वहाँ उनके निज के व्यक्तित्व का ही आभास होता है। पाठक, लेखक के रूप में पात्र और पात्र के रूप में लेखक को समझने लगता है।

राजेन्द्र यादव का व्यक्तित्व निर्माण मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार में होता है जिसका गहन अनुभव होने के कारण उन्होंने इस वर्ग की पारिवारिक संरचना, बनते-बिगड़ते और चटकते-टूटते सम्बन्ध रूपों को अधिक व्याख्यायित किया है। फिर भी मध्यवर्गीय रूढ़िवादिता की शिकार कहानियाँ नहीं हुई हैं। उन्होंने यदि उच्चवर्ग और निम्नवर्ग में जीवन्त संघर्षशील पात्रों को देखा है, उसकी विडम्बनाओं को महसूस



AUGUST_2023 Folder.indd 34 7/28/2023 1:36:17 PM

किया है तो उसे भी पात्रत्व दिया है और उसके अँधेरे को रेखांकित करने की सफल कोशिश की है। 'शह और मात' की प्रिंसेस अपर्णा उच्चवर्ग से जुड़ने के बावजूद 'टूटन' की यातना भुगतती है। उसका जीवन वैभव सम्पन्न है, फिर भी अपने परिवेश के बीच वह छटपटाहट महसूस करती है। 'एक इंच मुस्कान' की उच्चवर्गीय अमला अपनी अस्मिता की तलाश में मध्यवित्तीय लोगों के बीच सुकून पाने का असफल प्रयत्न करती है। वस्तुतः राजेन्द्र यादव की कथाकला का बीज शब्द 'टूटन' है, सन्दर्भ कोई भी हो। बेहतर जीवन जीने की लालसा में संघर्ष करता, पराजित होता, पुनः जिजीविषा से उठ खड़े होते व्यक्ति की व्यथा-कथा तत्कालीन साहित्य का ज्वलन्त सन्दर्भ था जिससे संवेदनशील रचनाकार स्वयं को दूर नहीं रख सके।

राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य में उखड़े हुए लोगों का दर्द है। ये लोग समाज से कटे नहीं हैं, परन्तु विषम परिस्थितियों में इनके पैरों के नीचे की ज़मीन हिल गई है और ये पैर जमाने के लिए प्रयासरत हैं, इस उम्मीद के साथ कि कल का दिन उनका होगा। राजेन्द्र यादव के कथा पात्रों की मूल नियति 'टूटना' है और यह टूटन की प्रक्रिया सम्बन्धों को सर्वाधिक प्रभावित करती है जिसके अनेक कारक होते हैं। इन कारकों में पूँजीवादी मनोवृत्ति, वर्गीय मानसिकता, आर्थिक-सामाजिक विसंगतियाँ तथा प्रेम-विवाह आदि के सन्दर्भ अधिक होते हैं जिनसे व्यक्ति का अहं आहत होता है और वह टूटन का शिकार होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कथालेखन 'आधुनिकता' की मानसिकता से प्रेरित थी। इसके दो रूप कथा साहित्य में व्यक्त हुए–विजातीय और जातीय। विजातीय को बतौर फ़ैशन अपनाया गया मगर मान्य आधुनिकता जातीय थी जो भारतीय परिस्थितियों में उद्‌भुत हुई थी। पाश्चात्य चिन्तन और अभारतीय मूल्यों के तीव्र संक्रमण भी हुए उससे भी भारतीय संस्कार और शिक्षा प्रभावित हुई। इस प्रभाववश जहाँ सचेत आधुनिकता का अंकुरण दिखता है, वहीं दूसरी ओर विकृत जीवन दर्शन और विजातीय स्थितियों का तीव्र स्वीकार भी परिलक्षित होता है। इस संक्रमण से गतिशील होते हुए भी राजेन्द्र यादव आरोपित, आयातित जीवन दर्शन से बचते हैं। उनके अनुसार जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण ही आधुनिक दृष्टि है। उन्होंने आधुनिकता का मुहावरा स्थापित मूल्यों, धारणाओं और व्यवस्था-विरोध में तलाशा। आधुनिकता का मुख्य पहलू अस्तित्व दर्शन भी उनकी कथा रचना में जड़ तक गहराया हुआ है। दरअस्ल, पाश्चात्य चिन्तकों-कीर्के गार्द की 'आस्था', ज्यां पाल सार्त्र की 'अनास्था' और अल्बेयर कामू का 'व्यर्थता बोध' जैसे विचारों का प्रभाव छठे दशक के किसी भी रचनाकार की कृतियों में रेखांकित किया जा सकता है। इनमें सार्त्र क्रान्तिद्रष्टा के रूप में प्रकट हुए जो किसी भी बहस के केन्द्र में होते; चाहे वह बहस उनकी स्वीकृति के लिए होता या अस्वीकृति के लिए। इसलिए उनके सभी प्रमुख पात्र मानवीय-संवेदना के स्तर पर अपनी अस्मिता-अस्तित्व को बनाए रखने का संघर्ष करते हैं। 'सारा आकाश' का समर, 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' की लक्ष्मी, 'टूटना' का किशोर और कुंलटा' की मिसेज़ तेजपाल, ये सभी पात्र अपने जड़ परिवेश से विद्रोह कर अपनी जीवन्तता बनाए रखने हेतु जोखिम उठाते हैं। ईश्वर के प्रति राजेन्द्रजी की नास्तिकता का आधार भले उनके जीवन की पृष्ठभूमि में हो मगर उसका चटख-रंग निखरता है सार्त्र और मार्क्स के प्रभामण्डल से। वस्तुतः उस समय आधुनिकता एक वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में स्वीकृत हुई जो स्वस्थ जीवन दृष्टि को स्वीकार करने की प्रेरणा देती है। इस तरह वह मूल्य है और प्रक्रिया भी। युगबोध की सापेक्षता में इसमें निरन्तर शोध होता रहता है। अतएव इसे किसी रूढ़ि या वाद में निबद्ध नहीं किया जा सकता।

स्वतन्त्रतापूर्व का साहित्य दो विचार धाराओं से गतिशील था। एक धारा फ्रायडीय विचारधारा से प्रभावित जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि की थी तो दूसरी धारा यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन आदि की थी, जिनका साहित्य मार्क्सीय वैचारिक प्रतिबद्धता की परिणति थी किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर रचनाकार किसी वैचारिक सीमा में सिमटकर संकुचित नहीं रहे। राजेन्द्र यादव और उनके समकालीन रचनाकारों उक्त दोनों धाराओं की अतिवादिता से मुक्त होकर 'व्यक्ति' को ज़्यादा महत्व दिए लेकिन सामाजिक सापेक्षता में। राजनैतिक स्वातन्त्र-संघर्ष की गहमागहमी में लेखन की शुरुआत करने वाले राजेन्द्र यादव की कुछ ही कृतियों में राजनैतिक विसंगतियाँ उभरती हैं, यह आश्चर्यजनक है।

रचनाकारों के विभिन्न परिस्थितियों में हुए उठापटक के बीच जद्दोजहद करते मुख्यतः उन उपेक्षितों की व्यथा-कथा को संवेदनात्मक संस्पर्श दिया जो स्वप्नभंग के शिकार हुए थे। इसीलिए राजेन्द्र ने व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों पर अधिक तरजीह दिया। संक्रमण के विभिन्न आयामों में घर्षण तो व्यक्ति का ही होता रहा और इस प्रक्रिया में सम्बन्ध सर्वाधिक प्रभावित हुए। यद्यपि, पारिवारिक विघटन के प्रसंग में पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, सास-बहू जैसे सम्बन्धों की टकराहट को राजेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में अनुभव किया जा सकता है, तथापि उनका अधिक प्रिय सन्दर्भ, स्त्री-पुरुष की पारस्परिकता रही है। प्रेम, विवाह, विच्छेद और स्वैराचार की नियति पर बेबाक विश्लेषण कृतियों में क़ाबिलेग़ौर है।

दुनिया की किसी भी भाषा का साहित्य स्त्री-पुरूष के सम्बन्ध को लेकर ही विकसित और विकासशील है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर संक्रामकता ने 'प्रेम' की अवधारणा को ही बदल दिया जिससे प्रेम का पारम्परिक व्याकरण गड़बड़ा गया। प्रेम में 'त्याग' का स्थानापन्न 'समझौता' शब्द हो गया। इसीलिए, कथाकार राजेन्द्र प्रेम को लिजलिजी मानसिकता से मुक्त कर यथार्थ के ठोस धरातल पर व्याख्यायित करते हैं। प्रेम-सेक्स को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानते हुए अन्य आवश्यकताओं की भाँति सामान्य रूप में वर्णित करते हैं। संस्कारों की बेड़ी से मुक्त होकर उन्होंने प्रेम और विवाह को पुनर्व्याख्यायित करते हुए 'विवाह' जैसी संस्था को भी चुनौती देने का साहस किया। 'उखड़े हुए लोग' में शरद-जया द्वारा उठाया गया क़दम उनके इसी नैतिक साहस का परिचायक है। वे दोनों विवाह न कर 'सम्मिलित जीवन' बिताने का फ़ैसला करते हैं। हालाँकि उनका यह निर्णय जल्द ही सामाजिकता के चौखटे पर विफल हो जाता है। रचनाकार की पूरी-पूरी सहानुभूति 'कुलटा' की मिसेज़ तेजपाल से भी है।

नई परिस्थितियों में व्यक्तित्व विघटन विभिन्न रूपों में होता है। अतः उसका चरित्रांकन सहज सरल भाषा में सम्भव नहीं होता, अतः जटिल जीवन-सन्दर्भों के सम्प्रेषण हेतु कहानी के शिल्प-विन्यास को नए बिम्ब-प्रतीकों के द्वारा उन्होंने सघनता प्रदान की। उनकी जिन कहानियों को दुरूह बताया गया अगर उसको ध्यान से पढ़ा जाए तो निश्चित रूप से वे अबूझ नहीं हैं, उनमें कलात्मकता का आग्रह ज़रूर है। कथ्य को विभिन्न कोणों से कहने की आतुरता इसलिए कि कथ्य की प्रखर अभिव्यक्ति हो फिर भी शिल्प कहानियों पर हावी नहीं हुआ है। उनमें

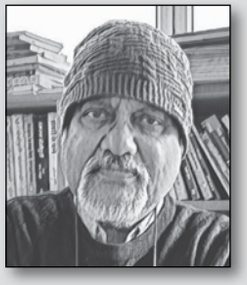
**....पृष्ठ 47 पर जारी**



AUGUST_2023 Folder.indd 35 7/28/2023 1:36:17 PM

# कबीर और मार्क ट्वेन थे परसाई

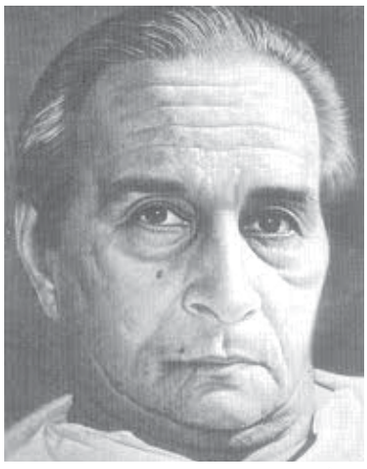
**बचपन में भले ही हरिशंकर परसाई पर मार्क ट्वेन का भी प्रभाव पड़ा हो लेकिन परसाई ने जो दृष्टि अपने भीतर विकसित की है, वह आस-पास के माहौल और परिस्थितियों को देखते हुए ही। उनकी दृष्टि किताबों से कम जीवनानुभवों से अधिक बनी थी क्योंकि परसाई ने भारत को 'ग़ुलाम' और 'आज़ाद' होते भी देखा था।**



**अरविन्द कुमार**

*ई-मेल : streedarpan123@gmail.com*

विश्व साहित्य में अपनी रचनाओं में व्यंग्य के मिज़ाज और लहजे को लेकर वाल्तेयर, जोनाथन शिफ़्ट से लेकर अमरीकी लेखक मार्क ट्वेन को कौन नहीं जानता! वे बहुआयामी रचनाकार थे और उन्होंने काफ़ी यात्रा संस्मरण और निबन्ध भी लिखे थे। उनकी गिनती दुनिया के सबसे बड़े हास्य व्यंग्यकारों में की जाती हैं। 30 नवम्बर, 1835 में फ़्लोरिडा में जन्मे इस लेखक की रचनाओं की छाप भारत के लोगों पर भी पड़ी थी। वे 1896 में भारत में भी आए थे और दो माह तक भारत के शहरों मुंबई, पुणे, जयपुर, आगरा, इलाहाबाद, दार्जिलिंग, कोलकाता में ट्रेन से घूमते रहे और उन्होंने अपने व्याख्यान भी दिए। भारत में उनकी लोकप्रियता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब मुंबई में उन्होंने अपना व्याख्यान दिया था, तो उस ज़माने में उन्हें टिकट से 2600 रुपये की आय हुई थी। भारतीय पाठ्यक्रमों में मार्क ट्वेन को पढ़ाया भी जाता रहा है। भारतीय पाठ्यक्रमों में शेक्सपियर के अलावा वड्र्सवर्थ, किट्स, शेली, टॉलस्टॉय, गोर्की आदि पढ़ाए जाते रहे हैं। जाहिर है उनके लेखन का प्रभाव यहाँ के लोगों पर पड़ा।



अगर यह कहा जाए कि हिन्दी के प्रख्यात लेखक हरिशंकर परसाई भारत के मार्क ट्वेन थे तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्होंने भी अपने प्रिय व्यंग्य लेखकों में मार्क ट्वेन को शुमार किया है और एक लेख में मार्क ट्वेन तथा ए.जी. गार्डनर जैसे व्यंग्यकारों की चर्चा भी की है, लेकिन परसाई केवल मार्क ट्वेन नहीं थे बल्कि वह हिन्दी गद्य के कबीर भी थे। दरअसल परसाई का पूरा जीवन और व्यक्तित्व अंतरराष्ट्रीय स्वरूप लिए हुए था क्योंकि वह देश-विदेश का न केवल साहित्य पढ़ते थे बल्कि अंतरराष्ट्रीय घटनाओं से लगातार जुड़े रहते थे और उन पर अपनी प्रतिक्रियाएँ एवं टिप्पणियाँ भी करते थे लेकिन हरिशंकर परसाई की जड़ें भारत की मिट्टी में धँसी थीं। वे देशज लेखक थे।

हिन्दी के प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह ने बाबा नागार्जुन को आधुनिक हिन्दी कविता का 'कबीर' कहा था, लेकिन अगर आधुनिक 'हिन्दी गद्य' का कोई 'कबीर' था तो वह हरिशंकर परसाई थे। यह कहने पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए और कोई इसे अतिशयोक्ति भी नहीं मानेगा क्योंकि अपने समय में कबीर ने जिस तरह निर्भीकता, साहस, बेबाक़ी और पारदर्शिता के साथ 'सच' कहा था, हरिशंकर परसाई ने भी अपने समय में इसी तरह 'सच' का बयान किया था। अगर मार्क ट्वेन अमरीकी साम्राज्यवाद का कटु आलोचक थे तो



AUGUST_2023 Folder.indd 36 7/28/2023 1:36:17 PM

परसाई भी अपने देश में सामंतवाद और पूँजीवाद के गहरे आलोचक थे।

हरिशंकर परसाई की पैदाइश 1924 में होती है यानी मार्क ट्वेन के निधन के 14 साल बाद और प्रेमचन्द के निधन के 12 साल पहले। वे अपने प्रिय लेखक मुक्तिबोध से दस साल छोटे थे।

अगर 'अँधेर नगरी' नाटक के आधार पर हिन्दी का पहला व्यंग्य-लेखक भारतेंदु को माना जाए तो परसाई की पैदाइश भारतेंदु के 75 साल बाद होती है। भारतेंदु की पैदाइश 1849 में हुई है। अगर 'अँधेर नगरी' को शासन व्यवस्था की आलोचना करने वाला भारत का हिन्दी में पहला 'क्रिटिकल' पाठ माना जाए तो इसके बाद बालमुकुंद गुप्त की चर्चित कृति 'शिव शम्भू के चिट्ठे' भी तत्कालीन व्यवस्था की पोल खोलने वाला एक 'दूसरा पाठ' है।

प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा ने लिखा है, ''बालमुकुंद गुप्त ने पत्रकारिता को एक कला बना दिया था। उन्होंने हिन्दी गद्य की शक्ति को प्रकट किया। गद्य इतना सुन्दर और कलापूर्ण हो सकता है ; उनकी रचनाएँ पढ़कर ही विश्वास होता है। उनकी कला, व्यंग्य ; हास्य लतीफ़ हो, सरल मुहावरेदार ज़ुबान और युक्ति एवं तर्क से निकली हुई है। वह हास्य और करुणा का मिला देने में अपना सानी नहीं रखते।'' रामविलास शर्मा जी के इस कथन में बालमुकुंद गुप्त की जगह हरिशंकर परसाई कर दिया जाए तो किसी को आपत्ति नहीं होगी। यानी परसाई ने उस व्यंग्य परम्परा को आगे बढ़ाया।

परसाई रचनावली के सम्पादन से जुड़े प्रसिद्ध आलोचक कमला प्रसाद ने लिखा है,

"उन्होंने (परसाई) भी गद्य के बुनियादी अंतरात्मा स्वभाव की हिन्दी की स्थापना की है। जनता की शिव-शक्ति को खोलना और इसी के लिए अपनी गद्य भाषा का चयन करना इनकी पहचान है।''

परसाई के लेखन के बाद अगर हिन्दी में कोई तीसरा क्रिटिकल पाठ था तो वह 'मतवाला' था जिसका प्रकाशन 1924 में 26 अगस्त को हुआ था। यह अजीब संयोग है कि 24 अगस्त को हरिशंकर परसाई के 100 साल पूरे हो रहे हैं और 26 अगस्त को 'मतवाला' के भी सौ साल पूरे हो रहे हैं। इस तरह 'मतवाला' के स्थापना वर्ष में परसाई का जन्म होता है। इस तरह हिन्दी में व्यंग्य के उद्भव और परिवेश को समझा जा सकता है। हिन्दी में व्यंग्य लेखन की एक लम्बी परम्परा रही और भारतेंदु, बालमुकुंद गुप्त के बाद जीपी श्रीवास्तव, निराला, शिवपूजन सहाय, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द वर्मा जैसे लोगों ने लिखा तथा इस विधा की आधार भूमि तैयार की जिस पर परसाई ने आधुनिक हिन्दी व्यंग्य का निर्माण किया।

बचपन में भले ही परसाई पर मार्क ट्वेन का भी प्रभाव पड़ा हो लेकिन परसाई ने जो दृष्टि अपने भीतर विकसित की है, वह आस-पास के माहौल और परिस्थितियों को देखते हुए ही है। उनकी दृष्टि किताबों से कम जीवनानुभवों से अधिक बनी थी क्योंकि परसाई ने भारत को 'गुलाम' और 'आज़ाद 'होते भी देखा था। उन्होंने अपना पहला लेख 1947 में 'प्रहरी' पत्रिका में लिखा था। 'नर्मदा के तट से' उनका पहला लेख था। वह भी छद्म नाम से। इस तरह परसाई 'लेखक' का 'जन्म', 'आज़ाद 'भारत में हुआ था। उन्होंने अपनी आँखों के सामने आज़ादी को देखा था और उस उम्र में भी आज़ादी को लेकर उनके मन में कोई परिकल्पना थी। 1947 में उनकी उम्र 23 वर्ष थी पर आज़ादी के बाद उनका भी धीरे-धीरे मोहभंग होता चला गया जैसाकि मुक्तिबोध का 'नेहरू युग' से हुआ था। यह भी दिलचस्प बात है कि परसाई के सबसे प्रिय लेखक मुक्तिबोध हैं। उन्होंने मुक्तिबोध पर 3 संस्मरण लिखे हैं। इससे पता चलता है कि परसाई मुक्तिबोध का बड़ा आदर करते थे और इसके पीछे कारण यह था कि मुक्तिबोध गहरी अंतर्दृष्टि वाले एक ईमानदार लेखक थे और यह ईमानदारी परसाई में भी थी तथा एक गहरी अंतर्दृष्टि भी थी। उन्होंने अपने समय में किसी को भी नहीं बख्शा इसका नतीजा यह हुआ कि लोगों ने उन पर हमले किए और उस हमले की ख़बर जब देशभर में 'दिनमान' तथा 'धर्मयुग' के ज़रिए फैली तो उस पर काफ़ी तीख़ी प्रतिक्रिया हुई। यशपाल, श्रीकांत वर्मा ने भी विरोध किया था। परसाई डरे नहीं बल्कि डटे रहे। उन्हें 'हिन्दी गद्य' का कबीर कहना इसलिए अधिक उचित है कि वह कबीर से अधिक प्रभावित हैं। यह अकारण नहीं कि वह कबीर की पंक्तियों के नाम पर अपने स्तम्भों का नाम रखते हैं और उनके स्तम्भ बहुत लोकप्रिय होते हैं। परसाई इतने लोकप्रिय होते हैं कि पाठकों के सवाल-जवाब का भी एक स्तम्भ शुरू होता जो उस जमाने में काफ़ी लोकप्रिय भी हुआ था। परसाई ने अपने स्तम्भों में 'तन्त्र' का एक्सपोज़ किया है। काफ़ी खरी-खोटी सुनाई पर वह व्यवस्था के साथ-साथ 'समाज' के भी 'कटु आलोचक' थे और इतना ही नहीं साहित्य के भीतर व्याप्त दुर्गुणों को भी सामने लाते थे। उनकी नज़र में वे ख़ुद के भी आलोचक हैं। वे अपना उपहास करने से भी नहीं चूकते। उनके यहाँ कबीर की तरह उलटबाँसियाँ भी हैं।

धर्म, जाति, राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति सब उनके निशाने पर हैं।

उनका गद्य भी कमाल का है। ठोस सधा हुआ, मारक, धारदार, चुस्त और पारदर्शी। कोई स्फीति नहीं। उनकी विषयवस्तु साफ़ है। कोई तामझाम ; द्वन्द्व या विचलन नहीं।

हिन्दी में यदि कोई दूसरा प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध, हजारी प्रसाद द्विवेदी नहीं हुआ, तो कोई दूसरा परसाई भी नहीं हुआ।

उनकी रचनाओं में कहानी, रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र-लेखन, साक्षात्कार, निबन्ध, ललित निबन्ध, विचार-प्रधान विश्लेषणात्मक निबन्ध आदि विधाओं के कई मिले-जुले रूप दिखाई देते हैं।

परसाई रचनावली की भूमिका में कहा गया है-

'परसाई सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में निरन्तर क्रियाशील रहे हैं। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है। अपने प्रारम्भिक जीवन में 'प्रहरी' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादन में सहयोग देते रहे हैं। वे जबलपुर की केन्द्रीय साहित्यिक संस्था 'साहित्य संघ' के महासचिव थे। जबलपुर माध्यमिक शिक्षक संघ के संस्थापक शिक्षकों में उनकी गणना की जाती है और वे संगठन के सचिव थे। 'वसुधा' नामक मासिक पत्र के श्री रामेश्वर प्रसाद गुरु के साथ सम्पादक रहे। इन गतिविधियों के सिवाय उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार भी लेखन के साथ होता गया। परसाई ने अखिल भारतीय शान्ति एवं एकता परिषद की गतिविधियों में भाग लिया है। मध्य प्रदेश में शान्ति आंदोलन के निर्माण और विस्तार में विशेष योगदान रहा। वे अखिल भारतीय शान्ति एवं एकता परिषद की राष्ट्रीय समिति के सदस्य, मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक, अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष रहे। उन्होंने भारत, रूस के विरुद्ध कार्य संगठनों की गतिविधियों में भी भूमिका निभाई। वे जबलपुर में प्रत्येक सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधि में भाग लेते रहे। जबलपुर विश्वविद्यालय ने अपने रजत जयंती समारोह में उन्हें डिलीट् की है।



AUGUST_2023 Folder.indd 37 7/28/2023 1:36:17 PM

मार्क ट्वेन को भी 1901 में येल यूनिवर्सिटी से मानद डीलिट् मिला था।

परसाई के मित्र रहे प्रसिद्ध कथाकार और 'पहल' के सम्पादक ज्ञानरंजन का कहना है-

"यह वर्ष हरिशंकर परसाई का जन्म शताब्दी वर्ष है और उनके कृतित्व को पूरा हिन्दी समाज एक नए सिरे से याद कर रहा है। हरिशंकर परसाई भारतीय मध्यवर्ग के सबसे लाड़ले, लाजवाब रचनाकार हैं। उन्हें स्वतन्त्र भारत और मध्य वर्ग का एक साफ़-सुथरा दर्पण भी कहा जाता है।

हरिशंकर परसाई को यूँ भी बार-बार पढ़ना अच्छा लगता है कि एक शताब्दी बाद उनका साहित्यिक विज़न पूरी तरह समकालीन और ताज़ा है। उनकी व्यंग्य रचनाएँ स्वतन्त्र भारत का वास्तविक चेहरा बन गई हैं। उनकी रचनाओं से गुज़रते हुए पता लगता है कि हमारे समाज को गढ़ने और तोड़ने वाली सभी धाराओं, घटनाओं को परसाईजी तीख़ी नज़र से देख रहे थे और रच रहे थे।

मेरी यह मान्यता है कि हरिशंकर परसाई ने अपने रचनात्मक युग में जैसे जोखिम उठाए वैसा प्रेमचन्द के बाद कम ही लेखक होंगे। इस प्रसंग में वे विरले रचनाकार हैं। उन्होंने पाया कि "प्रेमचन्द के फटे जूते भी व्यंग्य का एक त्रासद विषय हो सकते हैं और इस तरह परसाई जीवन की तीखी आलोचना करते हैं।"

परसाईजी ने अपने समकालीनों पर रोचक क़िस्से लिखे हैं जिनमें पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, सेठ गोविंददास, मैथिलीशरण गुप्त, यशपाल, जैनेंद्र, शमशेर, मुक्तिबोध, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह आदि शामिल हैं।

परसाई ने अपने व्यंग्य से लोगों को गुदगुदाया है तो तीख़ी चोट भी की है। धर्म के पाखंडयुक्त समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार राजनीति, नौकरशाही पुलिस शिक्षा व्यवस्था के पतन पर प्रहार किया है और जनता को जगाने का काम किया है। ❑

# एक टुकड़ा ज़िन्दगी

**पृष्ठ 32 का शेष**

ज़िम्मेदारियाँ बढ़ती गईं, उनके शौक पीछे छूटते गए, पर उन्होंने इस बात की कभी शिकायत नहीं की।

मुझे याद है एक बार लक्ष्मी बाबू का सारा घर बुख़ार में पड़ा था। ससुराल से आए बेटी-दामाद, उनके बच्चे और ख़ुद लक्ष्मी बाबू और क्रान्ति भाभी भी बुख़ार से तप रहे थे। ऐसे में बुखार की गोलियाँ खा-खा कर क्रान्ति भाभी सारे घर का काम कर रही थीं। बुख़ार की तकलीफ़ और थकान से जब पस्त हो जातीं तो लक्ष्मी बाबू के पलंग के पायताने बैठ कर दो पल रो लेतीं और फिर उठकर काम पर लग जातीं। हमारे बहुत कहने पर भी उन्होंने हमें खाना नहीं भेजने दिया था और ख़ुद बनाती रही थीं। शायद इसके पीछे बेटी और दामाद की रुचि-अरुचि, परख और पूछ कर चीज़ें बनाने की उनकी ललक ही एक कारण थी।

कुछ समय बाद जब सब ठीक हो गया तो लक्ष्मी बाबू ने उन्हें, उनकी पसन्द के झुमके दिलवाने के लिए ले जाना चाहा था, पर क्रान्ति भाभी ने यह कह कर मना कर दिया था कि 'चार पैसे पास रहेंगे तो कभी काम आएँगे। अगर ज़रूरत के समय ज़ेवर बेचने गए तो सुनार पहले बनवाई काटेगा फिर खोट- क्या फ़ायदा।'

"हौसला रखने के सिवा अब और चारा भी क्या है भाई साहब! आप बड़े हैं, समझदार हैं, मैं भला आपको क्या समझा सकता हूँ पर.....।" मैंने कुछ कहना चाहा पर उन्होंने मेरा वाक्य ऐसे काट दिया जैसे कुछ सुना ही न हो दिया और बोले–

"अगले दिन घर आई भी तो चद्दर में लिपट कर। कैसे चली गई- कब चली गई पता ही नहीं चला जितिन बाबू- मैं कुछ नहीं कर सका बस ठगा-सा खड़ा हुआ देखता ही रह गया। अभी-अभी सब कुछ था- सांस थी, प्राण थी, उम्मीद थी और अचानक कुछ भी नहीं था- न सांस, न प्राण और न उम्मीद।" मैंने अनुभव किया कि लक्ष्मी बाबू अब हार चुके हैं। जबरन अपने को ख़ुश दिखलाने की ज़िद टूट चुकी थी। स्वर लगातार भर्राता जा रहा था जिसे वह नियन्त्रित करने की कोशिश कर रहे थे।

"उफ़! कैसी विडम्बना है।"

क्रान्ति भाभी के अंतिम समय का यह प्रसंग सुनकर मैं दहल गया था। मेरी आँखों के सामने अस्पताल का दृश्य उभरने लगा था। उम्मीद से लक्ष्मी बाबू को देखती हुई क्रान्ति भाभी। बोलने से विवश क्रान्ति भाभी और फिर बिस्तर पर निष्प्राण लेटी हुई क्रान्ति भाभी। मेरी पलकों के कोरों पर पानी आकर ठहर गया।

"विडम्बना कैसी भी हो जितिन बाबू पर ऐसे कोई जाता है भला! बयालिस सालों से पकड़ा हुआ हाथ छुड़ाकर कोई जाता है- ऐसे। ऐसे कोई जाता है- जितिन बाबू.....।"

....इतनी देर से अपने ऊपर रखा हुआ नियन्त्रण समाप्त हो गया था और किसी नन्हें बच्चे की तरह फफक-फफक कर रो पड़े थे लक्ष्मी बाबू। मैंने झिझकते-झिझकते उनके कंधे पर हाथ रखा तो उन्होंने मेरा हाथ कुछ ऐसे पकड़ लिया जैसे कोई डूबने से बचने की कोशिश में पकड़ ले। आवेग थमा तो कुछ पल के लिए संयत हुए और फिर धीरे से बोले,

"मुझे मरने से बचाती रही और ख़ुद यूँ उठकर चली गई। अंदर जाकर देखिए तो अचार के मर्तबान भरे पड़े हैं। सौ साल जीने का सिलसिला किया हुआ था उसने, पर अचानक उठी और सब कुछ छोड़कर चली गईं। कोई जाता है ऐसे- आप ही बताइए जितिन बाबू, कोई जाता है ऐसे?"

लक्ष्मी बाबू ने फिर गहरे शिकायती स्वर में कहा और बेसाख़्ता सुबकने लगे। मैं कभी उनका हाथ सहला रहा था, कभी कंधा दबा रहा था और कभी अपने आँसू पोंछ रहा था। मेरे सामने सत्तर की दहलीज़ लाँघते लक्ष्मी बाबू नहीं थे- एक नन्हा-सा बच्चा था, जिसके हाथ से नियति ने सिर्फ़ टॉफ़ी ही नहीं छीनी थी बल्की दोनों छोर से टूटे हुए एक सुनसान पुल के ठीक बीचोंबीच लाकर पटक भी दिया था। ..... और उस टूटे हुए पुल के बीचोबीच अकेला खड़ा रह गया वह बच्चा अब समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे- ठौर इस पार भी नहीं था और उस पार भी नहीं। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 38 7/28/2023 1:36:17 PM

# जीना यहाँ ... मरना यहाँ !

**शैलेन्द्र ने फ़िल्मों के लिए लगभग आठ सौ गीतों की रचना की। उनके रचे गीतों में आम आदमी के सुख-दुख को तो अभिव्यक्ति मिली ही है, उनमें रूमानियत के साथ-साथ गहराई, काव्यात्मकता और दार्शनिकता विशेष रूप से महसूस की जा सकती है। यही कारण है कि वे जनमानस में गहरी पैठ बना लेते हैं। जन-जन के बीच लोकप्रिय हुए ऐसे गीत भी असंख्य हैं।**



**योगेन्द्र दत्त शर्मा**

*ई-मेल : yogendradattsharma3110@gmail.com*



ऐसा बहुत कम हुआ है कि फ़िल्मों से जुड़े हुए किसी कवि-लेखक को फ़िल्म और साहित्य दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्यार और सम्मान मिला हो लेकिन कवि शैलेन्द्र उन कुछ अपवादों में से हैं, जिनका दबदबा दोनों ही क्षेत्रों में लगातार बना रहा। उन्होंने जो सम्मान अर्जित किया, वह एक दुर्लभ और अन्यतम उपलब्धि ही कही जा सकती है। स्तरीयता और लोकप्रियता के बीच जिस अंतराल की बात की जाती है, उसे मिटाने का पूरा श्रेय शैलेन्द्र जैसे समर्थ और सक्षम कवि-गीतकार को जाता है। इस महत्वपूर्ण उपलब्धि का एक उल्लेखनीय पक्ष यह भी है कि लोकप्रिय गीतों की रचना करते हुए भी शैलेन्द्र काव्यात्मकता से कोई समझौता बिल्कुल नहीं करते।

जन्मशती के अवसर पर शैलेन्द्र की रचना-यात्रा की पड़ताल करना इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होगा कि उनकी रचनाएँ हमारे वर्तमान समय में कितनी प्रासंगिकता बनाए रख सकी हैं।

शंकर दास केसरी लाल शैलेन्द्र का जन्म 30 अगस्त 1923 को पंजाब के शहर रावलपिंडी (अब पाकिस्तान) में हुआ था। वैसे उनका पैतृक गाँव धुसपुर था, जो बिहार के भोजपुर क्षेत्र के आरा ज़िले में है। यहीं से उनके पूर्वज रोज़गार के सिलसिले में रावलपिंडी चले गए थे, जहाँ शंकर दास का जन्म हुआ, जो आगे चलकर शैलेन्द्र के नाम से देश ही नहीं, विश्वभर में भी प्रसिद्ध हुआ।

आर्थिक तंगी के चलते परिवार रावलपिंडी से मथुरा (उत्तर प्रदेश) चला आया, जहाँ शंकर के बड़े भाई रेलवे में नौकरी करते थे। यहीं पर एक सरकारी स्कूल में शंकर ने शिक्षा ग्रहण की। वह मेधावी छात्र थे। हाईस्कूल के बाद इंटरमीडिएट की परीक्षा भी अच्छे नम्बरों से पास की। उन्हें पढ़ने-लिखने का भी बेहद शौक था। पाठ्यक्रम के अलावा भी वह साहित्यिक पुस्तकों, पत्रिकाओं का अध्ययन किया करते थे। इसी दौरान वह कविताएँ भी लिखने लगे, जो स्तरीय और प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। शंकर शैलेन्द्र की ख्याति दूर-दूर तक फैल रही थी लेकिन आर्थिक तंगी पीछा ही नहीं छोड़ रही थी। पढ़ाई जारी रखना असम्भव हो चला था। घर का ख़र्च चलाने के लिए बड़े भाई का हाथ बँटाना ज़रूरी था लेकिन तमाम कोशिशों के बावजूद कोई नौकरी नहीं मिल रही थी। बड़ी मुश्किल से बम्बई में एक नौकरी मिली..... रेलवे के वर्कशॉप में वैल्डर की। वह बम्बई चले आए और वहाँ माटुँगा इलाक़े में एक कमरा लेकर रहने लगे।

दिनभर की मज़दूरी उन्हें शारीरिक रूप से तो थका देती थी, लेकिन कविता उनके मन को शक्ति, स्फूर्ति और ताज़गी पहुँचाकर उन्हें निरन्तर संबल प्रदान करती थी। एक कवि के तौर। वह



AUGUST_2023 Folder.indd 39 7/28/2023 1:36:18 PM

मानव-मूल्यों में गहरा विश्वास रखते थे। उनकी संवेदनशीलता मनुष्यता से आप्लावित थी, तो वैचारिकता में वामपंथी रुझान था। उनकी कविता इन्हीं आस्थाओं के बीच से अपनी अभिव्यक्ति की राह तलाशती थी। वह ज़िन्दगी के गायक थे। ज़िन्दगी की जीत में उनका दृढ़ विश्वास रहा। उनकी सुविख्यात पंक्तियाँ हैं–

'तू ज़िन्दा है, तो ज़िन्दगी की जीत में यक़ीन कर
अगर कहीं है स्वर्ग, तो उतार ला ज़मीन पर!'

दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग के लिए लिखी गई उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं–

'हर ज़ोर-ज़ुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है!'

ये पंक्तियाँ तो जन-जन की ज़ुबान पर चढ़ गईं। एक समय ऐसा आया कि यह संघर्षरत मज़दूरों का नारा ही बन गया। आज भी ये पंक्तियाँ वंचित-शोषित श्रमिक वर्ग के लिए बड़ी प्रेरणा का काम करती हैं।

रेलवे के कारख़ाने में काम करने के साथ-साथ शैलेन्द्र कविताओं के माध्यम से अपने श्रमिक साथियों के भीतर संघर्ष चेतना जगाए रखने की मुहिम छेड़े हुए थे। इसके साथ-साथ वह इप्टा (भारतीय जननाट्य मंच) के कार्यक्रमों में भी भाग लेते रहते थे।

यह वह समय था, जब देश को नई-नई आज़ादी मिली थी लेकिन इस ख़ुशी के साथ-साथ वह विभाजन का दंश भी झेल रहा था। यह इतिहास-क्रम में एक बड़ी मानवीय त्रासदी थी। देश भीषण आग में झुलस रहा था। इसमें भी पंजाब का क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित था। तब शैलेन्द्र ने एक मार्मिक कविता लिखी– 'जलता पंजाब'।

इप्टा के एक कार्यक्रम में वह यही कविता सुना रहे थे। श्रोताओं में सुविख्यात रंगमंच अभिनेता और सिने जगत के मँजे हुए कलाकार पृथ्वीराज कपूर और उनके फ़िल्मकार पुत्र राज कपूर भी मौजूद थे। संयोग ही था कि युवा राज कपूर उन दिनों 'आग' शीर्षक से एक फ़िल्म का निर्माण कर रहे थे। इसके निर्देशन का दायित्व भी उन्होंने ही सम्भाला हुआ था। कविता बहुत पसन्द आई, तो वह कवि के पास पहुँच गए। बोले– "मैं राज कपूर हूँ.... पृथ्वीराज कपूर का बेटा! मैं 'आग' नाम से एक फ़िल्म बना रहा हूँ। आपकी इस कविता को मैं अपनी फ़िल्म में इस्तेमाल करना चाहता हूँ...आप इजाज़त दें, तो!"

"माफ़ कीजिए। मेरी कविता बिकाऊ नहीं है!" कवि ने साफ़ मना कर दिया।

कवि का यह तेवर देखकर राज कपूर चकित रह गए। जिस अवसर को पाने के लिए लोग लालायित रहते हैं, इस ख़ुद्दार कवि ने उसे बेझिझक ठुकरा दिया। कवि के प्रति उनके मन में आदर-भाव कहीं ज़्यादा बढ़ गया।

"कोई बात नहीं!" राज कपूर ने बड़े धीरज से कहा, फिर अपना कार्ड दिया– "जब कभी आपका मन हो, आप बेझिझक आ सकते हैं! आपका स्वागत है!" ....

अरसा बीत गया। बात आई-गई हो गई।...

कुछ समय बाद कवि को माँ की बीमारी के कारण पैसे की सख़्त ज़रूरत महसूस हुई। वह राज कपूर के पास गए और कुछ रक़म उधार माँगी। राज कपूर ने बिना कोई प्रश्न किए पाँच सौ रुपये दे दिए।

पाँच-छह महीने बाद शैलेन्द्र ने पाँच सौ रुपये लौटाते हुए पूछा– "ब्याज कितना हुआ?"

राज कपूर ने कहा, "मैं ब्याज पर पैसा नहीं देता। आप चाहें, तो मेरी गुज़ारिश पर ग़ौर कर सकते हैं। .... मैं अगली फ़िल्म बना रहा हूँ– 'बरसात'! दो गाने लिखे जाने बाक़ी हैं!"

"सोचकर बताता हूँ!" कहकर वह चले आए।...

.... लेकिन कुछ दिन बाद ही ऐसी परिस्थिति बनी कि कवि को अपना फ़ैसला बदलना पड़ गया। कवि के यहाँ पहली संतान का जन्म होने वाला था और प्रसव के लिए पत्नी को मायके भेजना था। घर में इतना पैसा नहीं था। अर्थाभाव ने राज कपूर का आमन्त्रण स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। घर से चलते समय पत्नी ने कहा था, "जल्दी आना। देर न करना!"....

"मुझे आपकी पेशकश मंज़ूर है! बताइए, क्या करना है!" कवि ने कहा।

राज कपूर की बाँछें खिल गईं। उनकी तो मुँहमाँगी मुराद पूरी हो गई। बोले– "कविराज! सिर्फ़ दो गीत लिखे जाने बाक़ी हैं। दोनों ही आप लिख दें, तो मज़ा आ जाए!"

"ठीक है, क्या सिचुएशन है!'

सिचुएशन बता दी गई। कवि ने सामने रखा हुआ काग़ज़ उठाकर लिखना शुरू किया– 'बरसात में/ हमसे मिले तुम, सजन/ तुमसे मिले हम/ बरसात में... !'

गीत आगे बढ़ रहा था। कवि के भीतर पत्नी के शब्द गूँज रहे थे– 'देर न करना... !' कवि ने उन्हीं शब्दों को आगे बढ़ाते हुए लिखा – 'देर न करना/ कहीं ये आस टूट जाय / साँस टूट जाए.... / तुम न आओ, दिल की लगी मुझको ही जलाय/ ख़ाक में मिलाय /.... आग की लपटों में पुकारे ये मेरा गम../.. मिल न सके हाय/ मिल न सके हम.../ ...बरसात में... !'

सम्भव है, कवि के कृतज्ञ मन के किसी कोने में 'आग' फ़िल्म में गीत न लिख पाने की कसक रही हो। अवचेतन में आग का सन्दर्भ रहा और ये पंक्तियाँ अवतरित हुईं।

गीत पूरा हुआ। राज कपूर की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। तत्काल ही संगीतकार-जोड़ी शंकर–जयकिशन को बुलाया गया। धुन तैयार की गई। गीत रिकार्ड हुआ और फ़िल्म संगीत के क्षेत्र में नया इतिहास रच दिया गया। लगभग तीन चौथाई सदी के बाद भी यह गीत नया और ताज़ा लगता है।

कवि शैलेन्द्र के जीवन का भी यह ऐतिहासिक क्षण था। अब वह फ़िल्मों के गीतकार भी हो गए थे।

आगे चलकर फ़िल्म संगीत में एक नया इतिहास रचा जाना था, जिसकी बुनियाद रखी जा चुकी थी। एक इतिहास तो इस अर्थ में भी रच दिया गया था कि इस गीत को हिन्दी फ़िल्मों का पहला 'टाइटल साँग' होने का गौरव प्राप्त हुआ।.... फ़िल्म का दूसरा गीत भी कुछ दिन बाद तैयार हो गया।

शैलेन्द्र के पास अन्य फ़िल्मों में गीत लिखने के प्रस्ताव आने लगे। फ़िल्मों में गीत-लेखन की संभावनाओं की अनिश्चितता और अस्थायित्व को देखते हुए अभी तक उन्होंने रेलवे की नौकरी नहीं छोड़ी थी। जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, जीवन को स्थायित्व मिला, उन्होंने नौकरी छोड़ दी। अब वह पूरी तरह फ़िल्मी गीतों के लिए समर्पित हो गए।.....



AUGUST_2023 Folder.indd 40 7/28/2023 1:36:18 PM

'बरसात' की सफलता के बाद फ़िल्म संगीत के क्षेत्र में एक नई टीम बनी—गीतकार शैलेन्द्र-हसरत जयपुरी तथा संगीतकार शंकर-जयकिशन। इसका गठन गीत-संगीत के बेमिसाल पारखी राज कपूर ने किया। टीम ने मधुर और लोकप्रिय संगीत के नए कीर्तिमान स्थापित किए।

उन दिनों राज कपूर की बहुमुखी प्रतिभा नया आकार लेने की प्रक्रिया में थी। वह सार्थक और सामाजिक सरोकारों से युक्त सिनेमा के सृजन में प्रयत्नशील थे। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक, पत्रकार और फ़िल्मकार ख़्वाजा अहमद अब्बास के साहचर्य और सक्रिय सहयोग ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रगतिशील कवि शैलेन्द्र के जुड़ जाने से सर्जनात्मकता में और निखार आता गया। फ़िल्मों के लिए कहानी के चयन के साथ-साथ फ़िल्म-निर्माण के अन्य पक्षों में भी शैलेन्द्र की राय और परामर्श को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इस अध्याय का आरम्भ भी बड़े रोचक ढंग से हुआ।

'बरसात' के बाद अगली फ़िल्म 'आवारा' बनाने की तैयारी चल रही थी। इसकी कहानी ख़्वाजा अहमद अब्बास की थी। गीत लिखने का मुख्य दायित्व शैलेन्द्र को सौंपा जा रहा था। एक दिन राज कपूर शैलेन्द्र को अपने साथ लेकर अब्बास से मिलने गए। अब्बास कहानी के प्रमुख पात्र के चरित्र की बारीकियाँ समझा रहे थे। शैलेन्द्र विचारों में खोए हुए थे। अब्बास को लगा, शैलेन्द्र बात को समझ नहीं पा रहे हैं। उन्होंने पूछ लिया, "कुछ समझ में आया या नहीं!" शैलेन्द्र कक्ष से बाहर निकल गए। राज कपूर ने समझा, शैलेन्द्र बुरा मान गए हैं। वह उन्हें मनाकर कक्ष के भीतर लेकर आए। शैलेन्द्र के मुँह से बेसाख़्ता निकला— 'आवारा हूँ/ या गर्दिश में हूँ/ आसमान का तारा हूँ!' अब्बास उछल पड़े— "भाई, माफ़ करना। मैं कुछ और ही समझा था। आपने तो इतने कम शब्दों में इस किरदार की सारी ख़ूबियों को समेट लिया!"

शैलेन्द्र की यह अन्यतम विशेषता थी कि वह फ़िल्म की कहानी से तादात्म्य स्थापित करके गीत की सिचुएशन को भली-भाँति समझकर कथा-पात्र (जिस पर गीत फ़िल्माया जाना है) के भीतर प्रवेश कर जाते थे और उससे तदाकार होकर गीत की रचना करते थे।...

यहीं से आर. के. फ़िल्म्स के वैचारिक-सर्जनात्मक संभाग में संवेदनशील बुद्धिजीवियों की रचनात्मक टीम की नींव पड़ी। नतीजतन दर्शकों को 'आवारा' जैसी सार्थक और सोद्देश्य फ़िल्म देखने को मिली। फ़िल्म ने व्यावसायिक रूप से भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। सोवियत संघ में तो शैलेन्द्र का लिखा इस फ़िल्म का गीत 'आवारा हूँ' भी अत्यंत चर्चित और लोकप्रिय हुआ।

'आवारा' इस अर्थ में भी उल्लेखनीय है कि यह इसमें पहली बार स्वप्न-दृश्य फ़िल्माया गया। वस्तुतः यह एक दुःस्वप्न है, जिसमें नायक के अंतर्द्वन्द्व वाले मनोभावों को अत्यंत सूक्ष्म रूप से चित्रित किया गया। नायक भयावह परिस्थितियों से बाहर आना चाहता है, पर विवश है। पार्श्व में चल रहे गीत में शैलेन्द्र के शब्द दृश्य को और सघन बना देते हैं— 'ये नहीं है, ये नहीं है ज़िन्दगी.../ ज़िन्दगी की इस चिता में ज़िन्दा जल रहा हूँ ... हाय/ ..मुझको ये नरक न चाहिए.../ मुझको फूल.. मुझको गीत.. मुझको प्रीत चाहिए... मुझको चाहिए बहार... !' तभी नायिका आशा की किरण बनकर उसके सामने प्रकट होकर गाती है— 'घर आया मेरा परदेसी/ प्यास बुझी मेरी अँखियन की!'

एक महागाथा को कुछ ही शब्दों में कुशलता से समेट लेना कवि शैलेन्द्र के ही बूते की बात थी। राज कपूर शैलेन्द्र को 'कविराज' कहा करते थे। कभी-कभार वह उन्हें प्रसिद्ध रूसी कवि 'पुश्किन' के नाम से भी संबोधित कर देते थे। वह मानते थे कि शैलेन्द्र उनकी फ़िल्मों की आत्मा के साथ-साथ उनके द्वारा निभाए गए चरित्रों की भी आत्मा को आत्मसात करके गहराई में जाकर गीत लिखते हैं।

शैलेन्द्र के शब्द और राज कपूर के अभिनय के बीच अनोखा तादात्म्य होता था। दोनों का यह संतुलन ग़ज़ब का है, जो शब्दांकन और चित्रांकन के संतुलित सौन्दर्य को पाठक, श्रोता और द्रष्टा के सामने प्रस्तुत करता है। यही उसकी सार्थकता है। भाव और भंगिमा का यह सामंजस्य एक अलग ही सौन्दर्य की सृष्टि करता है। ....

शैलेन्द्र ने यूँ तो बहुत-से कलाकारों और फ़िल्मकारों के लिए बहुत अच्छे और शानदार गीत लिखे हैं, पर राज कपूर द्वारा निर्मित फ़िल्मों के लिए लिखे गए गीतों की बात ही निराली है। 'आवारा' में ही 'इक बेवफ़ा से प्यार किया' इसका प्रारम्भिक नमूना है। आगे चलकर फ़िल्म 'आह' में 'राजा की आएगी बरात... मगन मैं नाचूँगी', 'छोटी-सी ये ज़िन्दगानी रे /चार दिन की कहानी तेरी', 'ये शाम की तनहाइयाँ/ ऐसे में तेरा ग़म'; फ़िल्म 'श्री 420' में ' मेरा जूता है जापानी / ये पतलून इंगलिस्तानी / सिर पे लाल टोपी रूसी / फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी', 'दिल का हाल कहे दिल वाला ... कहके रहेगा कहने वाला', 'रमैया वस्तावैया / मैंने दिल तुझको दिया', 'मुड़-मुड़के ना देख / मुड़-मुड़के'; फ़िल्म 'बूट पॉलिश' में 'जौन चाचा तुम कितने अच्छे/ तुम्हें प्यार करते सब बच्चे', 'नन्हे-मुन्ने बच्चे! तेरी मुठ्ठी में क्या है', 'चली कौन-से देस गुज़रिया/ तू सज-धजके'; फ़िल्म 'अब दिल्ली दूर नहीं' में 'ये चमन हमारा अपना है', 'माता ओ माता/ जो तू आज होती/ मुझे यूँ बिलखता अगर देखती/ तेरा दिल टूट जाता'; फ़िल्म 'जागते रहो' में 'जागो मोहन प्यारे'; फ़िल्म 'जिस देश में गंगा बहती है' में 'मेरा नाम राजू घराना अनाम', 'होठों पे सचाई रहती है/ जहाँ दिल में सफ़ाई रहती है', 'हम भी हैं तुम भी हो / दोनों हैं आमने-सामने', 'ओ बसंती पवन पागल', 'आ अब लौट चलें/ नैन बिछाए, बांहें पसारे/ तुझको पुकारे देश तेरा'; फ़िल्म 'संगम' में 'ओ मेरे सनम/ ओ मेरे सनम/ दो जिस्म मगर इक जान हैं हम', 'दोस्त दोस्त ना रहा/ प्यार प्यार ना रहा', फ़िल्म 'मेरा नाम जोकर' में आख़िरी अधूरा गीत 'जीना यहाँ, मरना यहाँ / इसके सिवा जाना कहाँ' जैसे गीतों की लम्बी सूची है। ये सब राज कपूर द्वारा बनाई गई फ़िल्मों से हैं।

अन्य निर्माताओं की ऐसी फ़िल्में हैं, जिनमें शैलेन्द्र के लिखे गीत हैं और राज कपूर ने अभिनय किया है। इनके गीतों की भी लम्बी सूची है।

शैलेन्द्र ने अन्य अभिनेताओं की फ़िल्मों में भी बहुत लोकप्रिय गीत लिखे, जो आम लोगों की ज़ुबान पर चढ़े। शंकर-जयकिशन के अलावा उन्होंने सचिन देव बर्मन, सलिल चौधरी, सी. रामचन्द्र, रोशन, हेमंत कुमार, रवि, एस.एन. त्रिपाठी, पं. रविशंकर जैसे शीर्षस्थ संगीतकारों के साथ भी काम किया और उत्कृष्ट गीतों का सृजन किया।

शैलेन्द्र ने फ़िल्मों के लिए लगभग आठ सौ गीतों की रचना की। उनके रचे गीतों में आम आदमी के सुख-दुख को तो अभिव्यक्ति मिली ही है, उनमें रूमानियत के साथ-साथ गहराई, काव्यात्मकता और दार्शनिकता विशेष रूप से महसूस की जा सकती है। यही कारण है कि वे जनमानस



AUGUST_2023 Folder.indd 41 7/28/2023 1:36:18 PM

में गहरी पैठ बना लेते हैं। जन-जन के बीच लोकप्रिय हुए ऐसे गीत भी असंख्य हैं। उनमें से कुछ हैं– 'पूछो न कैसे मैंने रैन बिताई' ('तेरी सूरत मेरी आँखें'), 'तू प्यार का सागर है' ('सीमा'), 'दिल तड़प-तड़प के कह रहा है आ भी जा' ('मधुमती'), 'ऐ मेरे दिल कहीं और चल' ('दाग़'), 'ये मेरा दीवानापन है या मुहब्बत का सुरूर' ('यहूदी'), 'सूरज ज़रा, आ पास आ, आज सपनों की रोटी पकाएँगे हम' ('उजाला'), 'तेरा-मेरा प्यार अमर' ('असली नक़ली'), 'खोया-खोया चाँद, खुला आसमाँ' ('काला बाज़ार'), 'आज कल में ढल गया, दिन हुआ तमाम' ('बेटी-बेटे'), 'रुक जा रात, ठहर जा रे' ('दिल एक मंदिर'), 'सुर ना सजे, क्या गाऊँ मैं' ('बसंत बहार'), ' मैं गाऊँ, तुम सो जाओ' ('ब्रह्मचारी'), 'रात और दिन दिया जले' ('रात और दिन'), 'भैया मेरे राखी के बंधन को निभाना' ('छोटी बहन'), 'ये रातें, ये मौसम, नदी का किनारा, ये चंचल हवा' ('नई दिल्ली'), 'छोटी-सी ये दुनिया, पहचाने रास्ते हैं, तुम कभी तो मिलोगे' ('दिल्ली का ठग'), 'आज फिर जीने की तमन्ना है, आज फिर मरने का इरादा है', ' पिया तोसे नैना लागे रे' ('गाइड'), 'अजीब दास्ताँ है ये, कहाँ शुरू कहाँ ख़तम' ('दिल अपना और प्रीत पराई'), 'अजीब दास्ताँ तेरी ऐ ज़िन्दगी, कभी रुला दिया, हँसा दिया कभी' ('भाई-भाई'), 'बहुत दिया देने वाले ने तुझको/ आँचल ही न समाए तो क्या कीजे' ('सूरत और सीरत'), 'तू ज़िन्दा है, तो ज़िन्दगी की जीत में यक़ीन कर' ('चार दिल चार राहें'), 'ओ सजना, बरखा बहार आई' ('परख'), 'धरती कहे पुकार के/ बीज बिछा ले प्यार के... मौसम बीता जाय' ('दो बीघा ज़मीन') आदि।...

शैलेन्द्र एक बेहद भावुक और संवेदनशील इंसान थे। मायानगरी बम्बई में रहते हुए भी वह उसके रंग में ढल नहीं पाए। अपनी सादगी, भोलापन और पारदर्शिता को वह कभी छोड़ नहीं पाए। 'होठों पे सचाई रहती है/ यहाँ दिल में सफ़ाई रहती है' अथवा 'सब कुछ सीखा हमने, न सीखी होशियारी/ सच है दुनिया वालो, कि हम हैं अनाड़ी' उनके रचे शब्द-भर नहीं थे। यह उनका जीवन-दर्शन था, जिसे उन्होंने ईमानदारी के साथ अपने आचरण में ढाला।

अपने जैसा ही एक चरित्र उन्हें एक कहानी में मिल गया। यह कहानी सुविख्यात कथाकार फणीश्वर नाथ रेणु की लिखी हुई थी। शीर्षक था–'मारे गए गुलफ़ाम'। इस कहानी से परिचय कराया था बाबा नागार्जुन ने। वह कहानी पर रीझ गए।... और इस क़दर रीझ गए कि उस पर 'तीसरी कसम' शीर्षक से फ़िल्म बनाने की ठान ली। गाड़ीवान हिरामन की भूमिका के लिए अपने चहेते राज कपूर को लिया और नौटंकी की हीराबाई के लिए वहीदा रहमान को। संगीतकार शंकर-जयकिशन ही हो सकते थे। गीत लिखने के लिए अपने साथी हसरत जयपुरी को भी लिया। निर्देशन का दायित्व सौंपा बिमल राय के दामाद वासु भट्टाचार्य को।

फ़िल्म-निर्माण का काम कुछ दिन तो पटरी पर चला, फिर ऐसा उतरा कि सम्भालते-सम्भालते स्वयं संभालने वाला ही डगमगा गया। जो काम एक साल में पूरा होना था, उसे पूरा होने में चार साल लग गए। शैलेन्द्र भयंकर क़र्ज़ में डूब गए। क़रीबी दोस्तों ने संकट के वक्त मदद करने की बजाय मुंह फेर लिया। शैलेन्द्र बुरी तरह टूट गए। ऐसे में उन्होंने ख़ुद को पूरी तरह शराब में डुबो दिया, जिसकी दुखद परिणति उनकी घातक बीमारी में हुई।

फ़िल्म-निर्माण की चार साल चली थकाऊ प्रक्रिया और तज्जनित त्रासद अनुभवों ने शैलेन्द्र को बुरी तरह निराश किया। इस दौरान लिखे गए उनके गीतों पर इसका असर देखा जा सकता है। स्वयं 'तीसरी कसम' में एक गीत है– 'तुम्हारे महल चौबारे/यहीं रह जाएँगे सारे/

अकड़ किस बात की प्यारे?/ये सर फिर भी झुकाना है/ सजन रे झूठ मत बोलो/ ख़ुदा के पास जाना है!' कहते हैं कि शैलेन्द्र को अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। उन्होंने अपनी पत्नी बताया था कि 'शकुंतला, मैंने सपने में बैलगाड़ी पर एक गाड़ीवान को देखा, जो यह गीत गाता जा रहा था!' उक्त पंक्तियाँ उसी गीत की थीं। इसी तरह 'दीवाना' के एक गीत की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं– 'हम तो जाते अपने गाँव/ सबको राम-राम-राम!...कभी जो कह न पाए बात, वो होठों पे अब आई/अदालत उठ चुकी है अब, करेगा कौन सुनवाई!' इसी गीत में वह आगे कहते हैं– 'हुई हो भूल कोई, तो उसे दिल से भुला देना/ कोई दीवाना था, बातों पे उसकी ध्यान क्या देना!' .... ये पंक्तियाँ उनकी मृत्यून्मुखी मनःस्थिति की ओर ही संकेत करती लगती हैं।

शैलेन्द्र ने एक महत्वाकाँक्षी सपना देखा था, जो धमक के साथ टूट गया। साथ ही उस स्वप्नद्रष्टा को भी तोड़ गया। फ़िल्म असफल हो गई। राज कपूर ने फ़िल्म का अंत बदलने की सलाह दी थी, लेकिन शैलेन्द्र कहानी की आत्मा के साथ कोई व्यावसायिक समझौता करने को तैयार नहीं हुए। फ़िल्म की असफलता ने उन्हें तोड़-झिंझोड़कर रख दिया। फ़िल्म 'ज्वैल थीफ़' में उनके करुणोद्गार इस तरह व्यक्त हुए–'रुला के गया सपना मेरा/ बैठी हूँ, कब हो सवेरा ...कैसी ये ज़िन्दगी कि साँसों से हम ऊबे/ कि दिल डूबा, हम डूबे/.... उस पर ये गम का अँधेरा...!' इस फ़िल्म में केवल यही गीत शैलेन्द्र लिख पाए। बाक़ी गीत भी उन्हें लिखने थे, पर इससे पहले ही 'ऊपर वाले' का बुलावा आ गया।

यही स्थिति राज कपूर की फ़िल्म 'मेरा नाम जोकर' की है। इसमें एक गीत वह लिख चुके थे। दूसरा थीम गीत वह लिख रहे थे कि बीच में ही उनकी तबीयत बिगड़ गई और उन्हें अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। अधूरा गीत वह राज कपूर को सौंप चुके थे– 'कल खेल में हम हों न हों/ गर्दिश में तारे रहेंगे सदा/ भूलोगे तुम, भूलेंगे वो/ पर हम तुम्हारे रहेंगे सदा/ रहेंगे यहीं अपने निशाँ/ इसके सिवा जाना कहाँ/... जीना यहाँ, मरना यहाँ/ इसके सिवा जाना कहाँ!....' राज कपूर उन्हें देखने अस्पताल पहुँचे, तो उन्होंने कहा कि 'अस्पताल से छुट्टी मिलते ही मैं गीत पूरा कर दूँगा!' लेकिन अगले ही दिन, शैलेन्द्र अपना वादा पूरा करने से पहले ही कूच कर गए... उस दुनिया में, जहाँ से लौटकर कभी कोई नहीं आता।

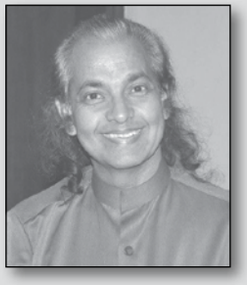
विडंबना देखिए, यह तारीख़ थी– 14 दिसम्बर 1966– यानी राज कपूर का जन्मदिन !....

...शैलेन्द्र सीधे-सरल व्यक्ति थे। वह एक आम भारतीय थे और देश के आम व्यक्ति के सुख-दुख से अच्छी तरह परिचित थे। अपनी कविताओं और फ़िल्मों के लिए लिखे गए गीतों में उन्होंने उसी आम आदमी के दर्दों, तकलीफ़ों, संघर्षों और उत्सव-उल्लासों को वाणी दी। वह शोषणमुक्त समाज के प्रबल पक्षधर भी थे। वह आम लोगों की दुनिया को बेहद प्यार करते थे और इन्हीं के बीच रहना पसन्द करते थे। तभी तो वह कह सके– 'जीना यहाँ, मरना यहाँ... इसके सिवा जाना कहाँ!' ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 42 7/28/2023 1:36:18 PM

शारदा अपने जीवन और सिनेमाई अनुभव को लेकर एक पुस्तक भी लिख रही थीं जिसे वो पूर्ण भी कर चुकी थीं। इस पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन की सभी को आशा है। शारदा के संग्रह में शंकर-जयकिशन की ढेरों अप्रदर्शित धुनें, स्वर लिपियाँ तथा कई दुर्लभ सामग्री हैं जिसे वे भारत सरकार के 'राष्ट्रीय फ़िल्म संग्रहालय' में देने का मन बना रही थीं जिसे अब उनके निधन के पश्चात् उनके पुत्र शम्मी राजन से सम्पर्क करके फ़िल्म संग्रहालय हस्तगत कर सकती है।



**राजीव श्रीवास्तव**

*ई-मेल : rajeevrsvpshrivastav@gmail.com*

# शारदा
# मैं चली आकाश...



हिन्दी सिने गीत-संगीत में साठ का दशक उत्कृष्ट गीतों का अनमोल उपहार लिए आज भी संगीत रसिकों को लुभाता है। स्थापित स्वरों के मध्य तब अकस्मात् ही वयःसंधि का स्वच्छन्द यौवन अपने कण्ठ में धारण किए एक सुर ऐसा उभरा जिसने संगीत प्रेमियों के हृदय के कोमल तार को अनायास ही झंकृत कर दिया था। हिन्दी सिनेमा में सौन्दर्य एवं श्रृंगार के कलात्मक पक्ष के संग सुर-स्वर-धुन के सांगीतिक गुणवत्ता के अद्भुत चितेरे निर्माता-निर्देशक-अभिनेता राज कपूर की पारखी ज्ञानेंद्रियों के अन्वेषण का ही परिणाम थीं गायिका शारदा जो हिन्दी सिने गीत-संगीत में अवतरित होते ही शीर्ष लोकप्रियता के शिखर पर आरूढ़ हो गईं।

हिन्दी सिनेमा में संगीत के चक्रवर्ती सम्राट-सा ओज धारण करने वाले यशस्वी संगीतकार जोड़ी शंकर-जयकिशन के सान्निध्य में सिने संगीत का व्याकरण सीखने की अवधि में ही शारदा फ़िल्म 'सूरज' (1966) के अपने गीतों से हिन्दुस्तान तथा सीमावर्ती देशों में एक परिचित नाम बन गईं। 'तितली उड़ी उड़ जो चली, फूल ने कहा आजा मेरे पास, तितली कहे मैं चली आकाश' ने तब लोकप्रियता के समस्त कीर्तिमानों को परे धकेल कर जिस नूतन इतिहास को रचा था वो आज भी लोगों को अचम्भित करता है। इसी फ़िल्म का एक अन्य गीत 'देखो मेरा दिल मचल गया, उन्हें देखा और बदल गया' में शारदा के स्वर में निहित प्रेम, श्रृंगार एवं समर्पण की अद्भुत प्रस्तुति ने संगीत रसिकों की अनुभूतियों को आश्चर्यजनक रूप से स्पन्दित करके सभी के हृदय पर आधिपत्य कर लिया था। इसके पश्चात् तो शारदा के सुरीले कण्ठ से उपजी मादक युवा स्वर लहरी उनके कई-कई गीतों में आने वाले वर्षों में लोगों के सिर चढ़कर डोलता रहा। गायक मुकेश के संग गाए ढेरों युगल गीतों में फ़िल्म 'अराउंड द वर्ल्ड' (1967) के गीत 'दुनिया की सैर कर लो', 'चले जाना ज़रा ठहरो' फ़िल्म 'पहचान' (1970) में वो परी कहाँ से लाऊँ, तेरी दुल्हन जिसे बनाऊँ', 'दुनिया' (1968) फ़िल्म का 'दुनिया इसी का नाम है' तथा स्वप्न सुन्दरी हेमा मालिनी की प्रथम फ़िल्म 'सपनों का सौदागर' (1968) के लिए 'तुम प्यार से देखो' जैसे अन्य फ़िल्मों के गीतों की श्रृंखला में मोहम्मद रफ़ी के संग का युगल गीत 'जब भी ये दिल उदास होता है' ('सीमा' 1971), 'जाने चमन शोला बदन' ('गुमनाम' 1965 ) तथा अन्य गायक-गायिकाओं संग गाए गीतों की एक वृहद सूची है।

दक्षिण भारत से सम्बद्ध शारदा के उच्चारण में दक्षिण प्रान्त का शैलीगत स्पर्श उनके गीतों में कहीं-कहीं पर अक्षर एवं शब्द विशेष पर ध्वनि का जो सम्मिश्रण उत्पन्न करता था वह उनके गीतों में आकर्षण का एक अतिरिक्त पुट लिए होता था। उनकी इस विशेषता से स्थापित गायिकाओं

**....पृष्ठ 53 पर जारी**



AUGUST_2023 Folder.indd 43 7/28/2023 1:36:18 PM

इस माह–75 वर्ष पूर्व
आजकल

# हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना का प्रारम्भ

**ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से शासन चले जाने पर देश की शासन व्यवस्था सुधरी। रेल, डाक जैसी सुविधाएँ जनता को मिलीं और उसमें एक नवीन जीवन, एक नवीन आशा का संचार हुआ। परिणामस्वरूप जनता में, विशेष रूप से लेखकों में, राजनैतिक जागरण और सामाजिक चेतना उदय हुई। राजनैतिक जागृति राज भक्ति के रूप में व्यक्त हुई और सामाजिक चेतना समाज-सुधार आंदोलनों के रूप में।**

**कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा**

मेरा यह निश्चित मत है कि आधुनिक भारतीय साहित्य, विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य राष्ट्रीय भावना-प्रधान रहा है; राष्ट्रीयता उसके उन्नयन और विकास की प्रमुख प्रेरक शक्ति रही है। जो परतन्त्र भारतवर्ष सर्वथ मर नहीं गया था, उसके सचेत साहित्यकारों और कलाकारों में राष्ट्रीय विचारधारा की प्रधानता अवश्य ही स्वाभाविक थी।

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना का उदय भारतेन्दु-युग (1857-1900 ई०) से होता है। चारणकाल में राष्ट्रीयता की भावना (आधुनिक अर्थ में) नितान्त अकल्पित थी। श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—"भारत में राष्ट्र की भावना कभी थी ही नहीं। जन्मभूमि अथवा मातृभूमि नाम की वस्तु थी तो अवश्य, परन्तु हम अपने गाँव को ही जन्मभूमि मानते थे। भारतवर्ष को जन्मभूमि मानना हमने पश्चिम से सीखा। इसीलिए भारत में राष्ट्रीय साहित्य का नितान्त अभाव था" 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में चन्दबरदाई का राजनैतिक महत्व किसी भी सामान्य चारण से अधिक नहीं है। राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम रीतिकालीन भूषण को भी, जिसने हिन्दुत्व के आदर्श वीर शिवाजी का गुणगान किया, राष्ट्रीय कवि की कोटि में नहीं रख सकते; क्योंकि जनता के दुख-दर्द दूर करने अथवा विंशृ खलित विभिन्न राज्यों को एकता के सूत्र में पिरोकर संगठित करने की प्रेरणा देना उनकी कल्पना और काव्य से कोसों दूर था।

भारत के स्वातन्त्र्य-आंदोलन में आज हम सन् 1857 के ग़दर को आज़ादी की पहली लड़ाई मानने लगे हैं और उसका महान ऐतिहासिक महत्व है किन्तु इसका कोई प्रभाव हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास पर सीधा नहीं पड़ा। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं– "1917वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतालीस वर्षों में हिन्दी कवियों ने इस घटना के बारे में बहुत कम कहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि प्रायः सभी बड़े-बड़े कवियों ने उसका ज़िक्र तक नहीं किया और जो कुछ कहा भी गया है, वह इतिहासकारों के कथन का समर्थन करता है। उनकी राय में क्रान्ति का होना देश के हित के लिए कोई अच्छी बात नहीं हुई।"

डॉ. वार्ष्णो को हिन्दी कविता में ग़दर सम्बन्धी केवल सोलह पंक्तियाँ मिल सकी हैं—

ग़दर ग़नीम गूवार उठ्यो सत्तावन में सिगरे जग जानी/ केते अनीति अनीत कियो, सब हिन्द प्रजा हिय में भय मानीं/ स्यौंही बिहारी लियो कर सासन, मेरी प्रजा दुख बेगि सयानी/ जेहि ऐसो विचार अशीसें सबै, चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी।

रसराज बाबू बिहारी सिंह, 'भारतेश्वरा भूषण' (सन् 1887)

सन् सत्तावन महिं जबहि कछु सेना बिगरी/ तब राजा दिशि रही सुदढ़ ह्वै परजा सिगरी/ दुष्ट समुझि अपने भाइन कहं साथ न दीन्हों/ भोजन बिन बिद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हों/ ठौर-ठौर निज घर लुटवा अरु फुंकवाय/ प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्राण बचाए।

—प्रतापनारायण मिश्र, 'ब्राडला स्वागत' (सन 1889)

दियो त्रास्त करि पूरबु डरे मानवन के मन/ समझ्यो जिन ये चाहत नासन जाति, धर्म, धन/



AUGUST_2023 Folder.indd 44 7/28/2023 1:36:18 PM

देसी मूढ़ सिपाही कछुक लै कुटिल प्रजा संग/ कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग/ बढ़यो देश में दुख, बन गई प्रजा प्रति कातर/ फेरयो तब तुम दीठ, भारत के ऊपर।

—बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'हार्दिक हर्षदर्श' (सन् 1990)

स्मरण रहे कि जब 'प्रेमघन' ने ये पंक्तियां लिखीं तब अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। यह उच्च एवं मध्यवर्गीय हिन्दी कवियों की प्रतिक्रिया थी, जबकि जनता ने आज़ादी की पहली लड़ाई में प्राण बलिदान करनेवालों को लोकगीतों में श्रद्धांजलि अर्पित की–

"ख़ूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसीवाली रानी!
बुरजन बुरजन तोपें लगाइ दईं, गोला चलाए अस्मानी
सगरे सिपाहियों को पेड़ा-जलेबी, आपने चबाई गुड़धानी
छोड़ मोर्चा लश्कर की भागी, ढूँ ढ़ेहुँ मिलै नहिं पानी,
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी!'

भूषण के 'हिन्दुवन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की' से यह उद्‌गार कितने अधिक उदात्त और मानवीय हैं, जिनकी परम्परा राष्ट्रीयता के रूप में थागे बढ़ी और आधुनिक युग में प्रायः अस्सी वर्ष बाद सुभद्राकुमारी चौहान ने लिखा—

'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी!'

हिन्दी और हिन्दू कवियों ने विजयी विदेशी का स्वागत किया इसके बावजूद जो राजनैतिक परिवर्तन देश में ग़दर के बाद ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेने पर हुए, उनका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। अनेक देशी राज्य या तो समाप्त हो गए या क्षीण हो गए। कवियों का दरबारी आश्रय छिन्न हो गया। फलस्वरूप हिन्दी कवि छापेख़ाने के माध्यम द्वारा जनता के समीप आए और उनके कृपाभिलाषी बने। यह एक ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ कि कवि शासक से हटकर शासित के प्रति उत्तरदायी हो गया और हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन स्वानुभूति तथा कपोल-कल्पना के स्थान पर जनानुभूति तथा वास्तविकता की प्रतिष्ठा हुई। लोकहित की इस स्थापना से हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता का बीज पड़ा, इसे अंग्रेज़ इतिहासकार जान ब्राइट ने 'ए हंड्रेड ईयर्स आफ़ क्राइम' ('अपराध के सौ वर्ष') कहा है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से शासन चले जाने पर देश की शासन व्यवस्था सुधरी। रेल, डाक जैसी सुविधाएं जनता को मिलीं और उसमें एक नवीन जीवन, एक नवीन आशा का संचार हुआ। परिणामस्वरूप जनता में, विशेष रूप से लेखकों में, राजनैतिक जागरण और सामाजिक चेतना उदय हुई। राजनैतिक जागृति राज भक्ति के रूप में व्यक्त हुई और सामाजिक चेतना समाज-सुधार आंदोलनों के रूप में। इस नवजागरण का एक दूसरा पहलू भी है : अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से अपने साहित्य के प्रति हीन भावना का जन्म हुआ। उर्दू के राजभाषा घोषित होने से अभिजात वर्ग हिन्दी के प्रति उपेक्षित हो गया और अशिक्षित जनता ग़रीबों के कारण शिकार होने लगी।

शिक्षितों की ज्ञान-वृद्धि होने से उनका ध्यान देश की आर्थिक दुर्दशा की ओर गया। उनके मन में 'क्यों? और कैसे?' विराट प्रश्न उठे। उन्होंने समझ लिया कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' परन्तु लाचारी थी। महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा होती रही– 'पूरी अमी की कटोरिया सी, चिर जीवो सदा विक्टोरिया रानी।'

ग़दर के बाद देश का नवजागरण एक ओर तो धार्मिक पुनरुत्थान के कारण सम्प्रदायवादी था (आर्यसमाज का कट्टर रूप और सनातनियों द्वारा मुस्लिम विरोध), पर सामाजिक होने के कारण (क्योंकि आर्य समाजी और सनातनी दोनों ही सुधार चाहते थे) राष्ट्रीयता के जन्म में सहायक हुआ।

जब देश की यह परिस्थिति थी, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का हिन्दी संसार में पदार्पण हुआ और एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। स्वयं राजभक्त होते हुए भी भारतेन्दु बाबू ने सबसे पहले देश की ओर ध्यान दिया और अपने समकालीन एवं अनुयायी कवियों– प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त को भी प्रेरित किया। उनकी राजभक्ति अक्षुण्ण न रही, वह शीघ्र ही देशभक्ति में परिवर्तित होने लगी। अंग्रेज़ी शासन से देश में जो एक सन्निकटता और उदारता की भावना उत्पन्न हो गई थी, उसने इस परिवर्तन में विशेष योग दिया। देश की उन्नति उनका ध्येय और आदर्श बन गया। जीवन और साहित्य का जो वियोग रीतिकाल में हो गया था, उसे दूर कर उन्होंने फिर घनिष्ट सहयोग स्थापित किया, जो द्विवेदी युग में होकर आज प्रगतिवादी युग तक निरन्तर अग्रसर होता चला आया है। हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता के विकास को भारतेन्दु बाबू और उनके युग की यह ऐतिहासिक देन महान और अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भारत के अतीत गौरव के गीत गाकर सबसे पहले भारतेन्दु ने राष्ट्रीय हीनता की भावना का निराकरण किया और पतित वर्तमान से उसकी तुलना करके जनता को जागृत किया। इस कार्य में उनके समकालीन कवियों ने भी योग दिया।

भारतेन्दु युग धार्मिक रूढ़ि-प्रधान युग था। इस युग के सभी लेखक प्रायः सनातन धर्मावलम्बी थे और आर्यसमाज के धार्मिक प्रभाव से अछूते थे। देश के दुख दूर करने के लिए वे अंग्रेज़ से भी बिनती करते थे, पर ईश्वर की अनुकम्पा में उन्हें विश्वास था। इसीलिए वे बार-बार भगवान का आह्वान करते हैं। विशेष रूप से स्वयं भारतेन्दु ने यूँ पुकारा—

'जीवत बिदेस की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं कर सकत/ जागो जागो अब साँवरे-सब कोउ रूख तुमरो तकत।

पर बालमुकुन्द गुप्त ने प्रार्थना के स्थान पर जनता को स्वयं अपनी सहायता करने के लिए ललकारना आरम्भ कर दिया।

राष्ट्रीय भावना यहाँ बहुत सचेत और सजीव रूप में उपस्थित होती है। कोरी राजभक्ति से असन्तोष बढ़ता जाता था। अंग्रेज़ी राज्य की असलियत खुलती जाती थी। सन् 1896 में देश में एक विकराल अकाल पड़ा, जिसमें अँग्रेज़ इतिहासकार पी. ई. राबर्टस के कथनानुसार लगभग बीस लाख मनुष्य मर गए। 'हिन्दी प्रदीप' में एक आल्हा में इस अकाल का सजीव और व्यंग्यात्मक वर्णन देखिए—

'संबत उनइस सौ तिरपन मा, पड़ा हिन्द में महा अकाल
घर-घर फाके होने लागे, दर-दर प्रानी फिरैं बेहाल॥
गेहूँ, चावल, सावाँ, मकरा, सबै अन्न एक भाव बिकाय।
बिन पैसा सब छाती पीटैं, अब तो हाय रहा नहिं जाए॥
कोई पात पेड़न के चाबै, कोई माटी, कोई घास चबाए।
कोई बेटवा बिटिया बेचैं, अब तो भूख सही नहिं जाए॥
कोई घर-घर भीखौ माँगैं, कोई लूट-पाट के खांय।
बहुत लोग जो अन्न देते हैं, राम निहोरै करैं सबाब।
बहुत लोग देते हैं फाँसी, अरु मलिका से चहै ख़िताब।
सी. एस. आई., के. सी. आई., रायबहादुर केर ख़िताब॥
भारतेन्दु को सत्य जानते देर न लगी—
भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तम धन धन मूसै।
ज़ाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहिं अंगरेज।
सत्य के इस दर्शन से राष्ट्रीय भावना और भी प्रखर हुई। देश की



AUGUST_2023 Folder.indd 45 7/28/2023 1:36:19 PM

ग़रीबी का कारण देशी और विदेशी आर्थिक परवशता है, यह जान लिया गया और तब भारतेन्दु और उनके साथी कवियों ने जनता को इस परवशता के बंधन तोड़ने के उपाय सुझाए। उस समय तक कांग्रेस या गाँधीजी के किसी स्वदेशी आंदोलन की नींव तक नहीं पड़ी थी। राष्ट्रीयता की निराकार भावना ठोस धरती पर आकर साकार हो गई और सक्रिय राजनीति का अंग बन गई। उन्होंने देशवासियों के लिए उच्च कला-शिल्प की माँग की। नवयुवकों को उनकी अकर्मनयता पर फटकारा। भारतेन्दु के शब्दों में—

सीखत कोड़ न कला, उदर भरि जीवत केवल;
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगा जल
धन विदेस चलि जात/ तऊ जिय होत न चंचल
जड़ समान ह्वै रहत अक्लिहत, रचि न सकत कल।

यह धन जाता किसलिए है, इसका उत्तर उस युग के कवियों ने यों दिया—

मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,/ परदेसी जुलहान के मानहुँ भए गुलाम/ बढ़न चहत आगे सबै जग की जेती जाति,/ बल बुधि ज्ञान-विज्ञान में तुम कहं अबहूँ राति/ परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस,/ परबस ह्वै कब लौं कहौ रहिही तुम ह्वै दास?

काम ख़िताब सिताब सों अब नहिं सरि है मीत,
तासों उठहु सिताब अब, छौड़ सकल भयभीत।
X X X
देस नगर बानक बनो सब अंग्रेज़ी चाल,
हाटन में देखहु भरो बस अंग्रेज़ी माल।

— प्रेमघन

निज भाइन के रचे वसन भूषन नहिं भावत,
मैनचैस्टर अरु लिवरपूल से लादि मंगावत।

—अम्बिकादत्त व्यास

फिर इस युग के कवियों ने देश के युवकों को उद्योग की शिक्षा देने की सिफ़ारिश की—

अंग्रेज़ी पहिले पढ़ै पुनि विलायतहिं जाय/ या विद्या को भेद सब तो कछु ताहि लखाय। -भारतेन्दु

विद्या उन्नति भई, शिल्प की उन्नति नाहीं,
देशोन्नति जाके बिन जग में कहुँ न लखाहीं।

—प्रेमघन

उस समय देश में अकाल नहीं था, पर कवियों ने देखा कि निर्धन देशवासियों के लिए तो सदैव अकाल पड़ा रहता है—

सुख सुकालहू जिनहिं अकालहि के सम भासत,
कई कोटि जन सदा सहत भोजन की सांसत ।

—प्रेमघन

ऊपर से टैक्सों की मार का यह मर्मस्पर्शी चित्रण देखिए—

इत अकाल, उत टिकस लगायो कर सब पै बरजोरी
तेज अनाज, ठीक कहुँ नाहीं मरत प्रजा सब झोरी
भीख माँगत लै झोंगी।

—'सार सुधानिधि'

ऐसी अवस्था में भला होली कैसे मनाई जाए?
महँगी और किस के मारे सगरी वस्तु अमोली है,
कौन भाँति त्यौहार मनैये, कैसे कहिए होली है?
भूखे मरत किसान तहूँ पर कर-हित डपट न थोरी है,
गारी देत दुष्ट चपरासी, तकति बेचारी छोरी है।

—प्रतापनारायण मिश्र

और सारा भारत देश ही भिखारी हो गया—

डफ बाज्यो भारत भिखारी को!/ केसर, रंग, गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहिं पिचकारी को/ बिन अन्न, धन लोग सब व्याकुल,
भई कठिन बिपत नर-नारी को/ चहुँ दिसि काल पर्यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को।

—'हिन्दी प्रदीप'

इस दुरावस्था को दूर करने के लिए 'प्रेमघन' किसानों को खेती की आधुनिक शिक्षा देने के लिए याचना करते हैं—

दीन कृषक जन औरहु दया जोग दरसाहीं,/ जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र लखियत कहुं नाहीं/ मिहनत करत अधिक पर अन्न बहुत कम पावत,/ जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जियावत/ तिनहिं सिखावहु कृषी कर्म जस होत बिलायत।

परन्तु सरकार यह सुझाव, यह विनय कब सुनने वाली थी?

तब बालमुकुन्द गुप्त देशवासियों को स्वावलम्बी होने का मार्ग सुझाते हैं—

अपना बोया आप ही खावें, अपना कपड़ा आप बनावें,/ माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरख़ा आप चलावें।

यह तो विदेशी शोषण के विरुद्ध आवाज़ है। देशी शोषकों के प्रति भी जो उद्‌गार गुप्तजी ने प्रकट किए हैं, वे आज के किसी उग्र प्रगतिवादी से घटकर नहीं हैं—

हे धनियों, क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार?
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके भोजन को धिक्कार!
X X X
हे धनवानों! हा धिक, किसने हर ली बुद्धि तुम्हारी है?
निर्धन उजड़ जाएँगे, तब फिर कहिए किसकी बारी है?

व्यंग्य, धिक्कार, विनती से भी जब काम नहीं चला और भ्रम दूर होता चला गया, तब राष्ट्रीय भावना आज़ादी की माँग तक जा पहुँची—

सर्बसु लिए जात अंग्रेज़,
हम केवल ल्यकचर के तेज़
सब तजि गहौ स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातैं खाव,
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव।
X X X

भाय भाय आपस में लर, परदेसिन के पायन परैं/ यहै द्वेष भारत शशि-राहु, घर का भेदिया लंका दाहु!/ जगत दास कस होहिं न आरज,
निबर की जुइया सबकै सरहज/ नहिं एकता सरिस बल कोय,/ एक एक मिल ग्यारह होय!

—प्रतापनारायण मिश्र

उन्नति और विकास की प्रक्रिया एक द्वन्द्वात्मक क्रम है। प्रगति और दुर्गति के परस्पर विरोध के फलस्वरूप ही विकास अग्रसर होता है। भारतेन्दु युग में हिन्दुओं में एक ओर तो राजभक्ति की भावना विद्यमान था, दूसरी ओर सरकार टैक्स लगाती चली जाती थी और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-पद से भारतीयों को वंचित रखती थी। जनता रेल-डाक द्वारा देश के एक हो जाने के कारण प्रसन्न थी, तो ईसाइयों द्वारा धर्म परिवर्तन से रुष्ट। पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता के सुख-साधन पाकर देशवासी हर्षित थे, किन्तु रूढ़ि-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन में कोई समानान्तर



AUGUST_2023 Folder.indd 46 7/28/2023 1:36:19 PM

परिवर्तन उन्हें अत्यन्त तिक्त लगता था। प्राचीन और अर्वाचीन का यह संघर्ष भारतेन्दु युग की विशिष्टता थी। स्वयं भारतेन्दु पुनरुथानवादी कम, प्रगतिशील अधिक थे। उनमें प्राचीनता अथवा भारतीयता की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं के प्रति सम्मान था और उनके रक्षण के लिए वह प्रयत्नशील थे, किन्तु साथ ही वह समाज की दुर्गन्धयुक्त जर्जर ज़ंजीरों को तोड़कर समाज में शिक्षा और सुधार द्वारा एक नवीन प्राण फूँक देना चाहते थे, ताकि उसके विकास का रुद्र मार्ग प्रशस्त हो। सद्भावना और सदाशयता के बावजूद भारतेन्दु और उनके साथी लेखकों में संस्कारगत दुर्बलताएँ प्रकारानुसार जब-तब उभरती रहती थीं। फिर भी भारतेन्दु और प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी और उदार थे परन्तु भारतेन्दुयुग के इन चार विशाल स्तम्भों में से किसी को भी परिवर्तन का वह मार्ग या तो सूझा नहीं या पसन्द नहीं आया जो सन् 1857 ने उन्हें दिखाया था। अंग्रेज़ और अखिलेश्वर से प्रार्थना ही उनके अंतिम अस्त्र थे। भारतीय नियतिवाद से देश की दासता का समझौता कम-से-कम मानसिक रूप से वे कर ही बैठे थे। उग्र सुधारवादी आर्यसमाज और ब्रह्म-समाज ने पुरुषार्थ का शंख फूँका तो, किन्तु उसकी पुकार सुनने से भारतेन्दुयुगीन लेखकों ने इन्कार किया। सुधार के पक्ष में वे नहीं थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता; किन्तु एक भारतेन्दु को छोड़कर वे सुधार बाहर शासन में चाहते थे, अपने घर की व्यवस्था में उन्हें किसी प्रकार का (देशी या विदेशी, समाजी अथवा अंग्रेज़ी) हस्तक्षेप स्वीकार नहीं था।

भारतेन्दु ने 'नई-पुरानी' के समन्वय का समर्थन किया किन्तु वह स्त्री-शिक्षा के कट्टर हिमायती थे। उन्होंने नारी को उसका समुचित सम्मानयुक्त पद दिया—

जो हरि, सोई, राधिका, जो शिव, सोई शक्ति;/ जो नारी, सोई पुरुष, या मैं कछु न विभक्ति/ वीर-प्रसविनी बुध-बधु, होइ हीनता खोय,
नारी नर-अरधंग की सांचेहि स्वामिनि होय।

(बालाबोधिनी)

किन्तु वह अति के प्रतिकूल थे —

आधे पुराने पुरानहिं माने, आधे भए किरिस्तान हो दुईरंगी
क्या तो गदहा को चना चबाबैं, कि होइ दयानन्द जायं दुइरंगी।

स्वामी दयानन्द पर दुरंगी होने का यह अभियोग किंचित अन्यायपूर्ण है किन्तु सामाजिक सुधारवाद और धार्मिक रूढ़िवाद के परस्पर द्वन्द्व से देश की सभ्यता-संस्कृति के प्रति जो हीन भाव उत्पन्न हो गया था, वह दूर ही नहीं हुआ वरन् जनता में आत्मसम्मान की भावना भी जग आई, विदेशी संस्कृति के आक्रमण से जिसके मर जाने की आशंका थी। प्रताप नारायण मिश्र ने 'लोकोक्ति शतक' (सन् 1888) में इस भावना को व्यंग्यसहित व्यक्त किया है —

'तन मन से उद्योग न करही,/ बाबू बनिवे के हित मरहीं।
परदेसिन सेवत अनुरागे/ सब फल खाय, धतूरन लागे।'

विदेशी की सेवा के प्रति यह व्यंग्य परतन्त्रता के विरुद्ध हिन्दी में कदाचित क्रान्ति की प्रथम प्रच्छन्न चिनगारी है। भारतेन्दु युग में ही 'चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी' से 'सब फल खाय, धतूरन लागे' तक अर्थात राजभक्ति से देशभक्ति तक का यह विकास, राष्ट्र की परिभाषा में राष्ट्रीय सम्मान की भावना का यह समावेश, एक आश्चर्यजनक परिवर्तन था, जिसका रंग द्विवेदी-युग में गहरा होकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में, साहित्यिक गाँधी प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में निखरा और आज पन्त और निराला, 'नवीन' और 'दिनकर', अज्ञेय और अंचल, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और गिरिजाकुमार माथुर, त्रिलोचन और शमशेरबहादुर सिंह, नेमिचन्द्र और भारत भूषण, माचवे और केदारनाथ के सहेज मानवीयता से ओतप्रोत प्रखर काव्य में सार्वजनीन और विश्वव्यापक होकर अंतरराष्ट्रीय हो गया है। ❑

## कथा-साहित्य....

**पृष्ठ 35 से आगे**

'मूर्ति' तोड़ने की बेचैनी अवश्य दिखती है। यह प्रवृत्ति बने हुए लेखक की नहीं, बनते हुए लेखक की पहचान होती है और यही प्रयत्नशीलता किसी रचनाकार को शीर्ष स्थान दिलाती है। वैसे, कुछ कहानियों को छोड़कर ज़्यादातर कहानियाँ ज़िन्दगी से सीधे-सीधे जुड़कर बिना लाग लपेट के अभिव्यक्त हुई हैं। निस्संदेह ये सब अपने युग का प्रतिनिधित्व करने वाली कहानियाँ हैं।

किसी कथाकार या कथासाहित्य के मूल्यांकन का सन्दर्भ हो तो प्रेमचन्दीय अवदान की चर्चा अनिवार्य हो जाती है। उनकी अनुपस्थिति से विमर्श संतोषप्रद नहीं होता क्योंकि उनकी विरासत को सहेजने वालों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है। तब, यह जेनुइन सवाल उठ खड़ा होता है कि प्रेमचन्दोत्तर कथाकार उनकी विरासत को किस रूप में सहेजते हैं? मुख्य धारा के रचनाकर उनके साथ स्वीकृति के स्तर पर खड़े हुए या अस्वीकृति के स्तर पर; यह मुद्दा विचारणीय हो जाता है। आँचलिक या ग्राम्य संवेदना के कथाकारों का रिश्ता तो प्रेमचन्द से सीधे-सीधे क़ायम हो जाता है किन्तु कथाभूमि की भिन्नता अर्थात् महानगरीय भाव बोध के कथाकार राजेन्द्र यादव या उनके हमदम रचनाकार प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी नहीं हो सकते, यह आरोप लगता है परन्तु, राजेन्द्र यादव 'प्रेमचन्द की विरासत' में इस कथन को दृढ़ता से अस्वीकार करते हैं क्योंकि प्रेमचन्द्र की सम्वेदना, दृष्टि और सरोकार को वे संस्कार रूप में अपने भीतर पाते हैं। बेशक, अनुभव का फैलाव, कथ्य का लम्बा-चौड़ा फलक राजेन्द्र यादव की कृतियों में भले न हो किन्तु, दृष्टि का पैनापन, कथ्य के प्रति यथार्थ का आग्रह और अभिव्यक्ति की मज़बूत पकड़ उनकी लेखनी में अवश्य रही है। इसीलिए, राजेन्द्र यादव के द्वारा किया विषय-विश्लेषण सूक्ष्म, गहन, सुविचारित और प्रामाणिक होता है। उनके विचारों से पाठक-लेखक आंदोलित होते रहे और उनकी भी एक परम्परा प्रारम्भ हो गई जो उनके मरणेपरान्त भी गतिशील है। 'हंस' पत्रिका के माध्यम से यह स्कूल और अधिक समृद्ध हुआ।

निःसंदेह, कथाकार राजेन्द्र यादव 'नई कहानी' के प्रभावशील, महानता के मिथ को अतिक्रमित करने वाले सशक्त प्रगतिशील और प्रयोगधर्मा रचनाकार हैं। उनकी प्रगतिशीलता किसी वाद के घेरे में आबद्ध नहीं थी। संकीर्णताओं से उठकर मानवीयता का पक्ष लेने वाले लेखक का दृष्टिकोण ही स्वस्थ जीवनदृष्टि का प्रतिमान रच सकता है परन्तु, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' का वस्तुसत्य एक हो, यह कहना भी बेमानी होगा। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 47 7/28/2023 1:36:19 PM

पद्मधर सिंह लाल, रमेश दत्त मालवीय, अब्दुल मजीद

# क्रान्ति की मशाल

**'वन्देमातरम्' का नारा पूरा होने से पूर्व ही दनादन गोलियाँ बरस पड़ीं। जलसे में कोहराम मच गया। गोलियाँ चलती रहीं। लोग घायल होकर ज़मीन पर गिरते रहे। उनके हाथ से तिरंगे ध्वज को पीछे वाले थामते रहे। वर्षों से गाते आ रहे गीत 'इसकी शान न जाने पाए, चाहे जान भले ही जाए' की पंक्तियों को आज देशभक्तों ने सार्थक करके दिखा दिया था। इस गोलीकांड में अब्दुल मजीद ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।**

**रविचन्द्र गुप्ता**

सन् 1942 ई.। इलाहाबाद का दारागंज मोहल्ला। अगस्त का महीना और रात्रि 11 बजे का समय। इसी मोहल्ले में साधुओं का एक मठ था। उसी मठ के एक कोने में एक साइक्लोस्टाइल मशीन से कुछ इश्तहार छापने का कार्य चल रहा था। अचानक एक पीला वस्त्रधारी साधु वहाँ दौड़ता हुआ आया और सभी को सचेत करते हुए बोला–

"पुलिस मठ का पता पूछती घूम रही है। बन्द करो। पुलिस को पता चल गया है। जल्दी भागो यहाँ से।"

छापने वाले लोगों ने छपी सामग्री का बंडल बनाया और तुरन्त वहाँ से रफ़ूचक्कर हो गए। अब समस्या थी मशीन को हटाने की। इतनी भारी मशीन को वहाँ से शीघ्र ही हटाना संभव नहीं था। एक दाढ़ी वाले महंत ने तुरन्त एक रेशमी कपड़े से मशीन ढक दी। उसके ऊपर भगवान राम और हनुमान की तस्वीरें रख दीं। उनके आगे मालाएँ और फूल बिखेर दिए तथा धूप-बत्ती जला दी और सारी साधु मंडली को इकट्ठा कर झाँझ-मंजीरा बजा-बजाकर कीर्तन आरम्भ कर दिया। पुलिस ने जब अंदर प्रवेश किया तो वहाँ भगवान के ध्यान में मग्न लोगों को देखा।

भक्तों को कीर्तन में मग्न देख पुलिस ने उन्हें छेड़ना उचित नहीं समझा। पुलिस ने तलाशी हेतु मठ के अंदर एक चक्कर लगाया और वहाँ से चली गई।

अगले दिन जब सवेरा हुआ तो नगर में जगह-जगह पोस्टर लगे मिले। उन पोस्टरों पर लिखा था-

गाँधीजी का पता नहीं है

पण्डित नेहरू घायल हैं।

जेलों में रोज़ लाठियाँ बरसाई जाती हैं।

आज़ादी की लड़ाई रुकने न पाए।

यह आख़िरी लड़ाई है। फ़िरंगी के पाँव उखड़ गए हैं।

दारागंज के मठ में यद्यपि थोड़े ही इश्तहार साइक्लोस्टाइल हुए थे लेकिन रातोंरात वह सभी विविध स्थलों पर चस्पा कर दिए गए।

सुबह-सुबह लोग घूमने या दूध लेने सड़कों पर निकले तो जिसने भी उन पोस्टरों को पढ़ा, उसका ख़ून खौल उठा। लोग उन्हें पढ़ते और तरह-तरह की बातें करते। पुलिस ने दीवारों के पास जब लोगों की भीड़ देखी तो उसे समझते देर न लगी। पुलिस ने खीझकर उन लोगों को ही पीटना आरम्भ कर दिया। कई लोगों को गिरफ़्तार भी कर लिया। लोग घर से निकले तो थे टहलने अथवा अन्य किसी कार्य से, पहुँच गए हवालात में। उनका कसूर केवल इतना था कि इश्तहार पढ़ रहे थे।



AUGUST_2023 Folder.indd 48 7/28/2023 1:36:19 PM

इलाहाबाद में ऐसी घटनाएँ साधारण-सी बात थी। यहाँ प्रेस पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। अनेक छापेख़ानों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई थी। सम्पादकों को लम्बी अवधि के लिए कारावास में डाल दिया गया था। अतः लोगों तक सूचनाएँ पहुँचाने और उनमें आज़ादी की तड़प पैदा करने हेतु इलाहाबाद में ऐसी कई साइक्लोस्टाइल मशीनें काम कर रही थीं। क्रान्तिकारी अपना स्थान बदलते रहते थे। मन्दिरों में वे अपने को अधिक सुरक्षित समझते थे।

इश्तहारों को दीवारों पर लगाने का कार्य बहुत जोखिम भरा था। अठारह वर्षीय छात्र अब्दुल मजीद ने अपने साथ छोटे बच्चों की एक टोली बना रखी थी जो कि इश्तहार चस्पा करने का कार्य करती थी। ये बच्चे पुलिस को चकमा देने में सिद्धहस्त थे। खेल-खेल में वह अपना काम कर जाते थे। कई बार तो इन छात्रों को इश्तहार भी अपने हाथों से ही लिखने पड़ते थे।

दिनांक 12 अगस्त को इलाहाबाद विश्वविद्यालय की छात्राओं ने विशाल जुलूस निकाला। उसका नेतृत्व विजय लक्ष्मी पण्डित और जस्टिस आनंद नारायण मुल्ला की बेटी कर रही थीं। जुलूस पर पुलिस ने जैसे ही गोलियाँ चलाई, तभी बी. ए. का एक छात्र पद्मधर सिंह लाल छात्राओं के सामने आ गया। उसने छात्राओं की ओर चलाई गई गोलियाँ अपने ऊपर झेलीं लेकिन छात्राओं को आँच न आने दी। पद्मधर सिंह लाल मध्य प्रदेश के रीवा नरेश का सबसे छोटा पुत्र था। सभी छात्र उससे बहुत प्यार करते थे। उसकी हत्या से छात्रों में भारी रोष व्याप्त हो गया।

इलाहाबाद के प्रसिद्ध भानुदत्त वैद्य का तेरह वर्षीय पुत्र रमेश दत्त मालवीय सी.ए.वी. इंटर कॉलेज का छात्र था। पटना सचिवालय पर गोलीकांड के बाद सात छात्रों के बलिदान से उसके हृदय को गहरा आघात लगा था। उसने उसी दिन अपने कॉलेज के छात्रों में जोश भरकर एक जुलूस का आयोजन कर डाला। छात्रों का यह जुलूस ज़िला न्यायालय की ओर बढ़ चला। उससे कुछ ही समय पूर्व पद्मधर सिंह लाल की पुलिस द्वारा हत्या के कारण इलाहाबाद में पहले से ही तनाव व्याप्त था लेकिन लोगों में इतना जोश था कि भय नाम की कहीं कोई चीज़ नहीं थी। देखते-ही-देखते रमेश दत्त मालवीय के साथ जुलूस में नगर के लोग भी शामिल होते गए। ज़िला न्यायालय पर पुलिस का भारी जमघट था। पुलिस ने जुलूस को वापस जाने की चेतावनी दी लेकिन जुलूस न रुका। पुलिस ने लाठियाँ बरसानी आरम्भ कर दीं। लाठियाँ बरसने से जुलूस में भगदड़ मच गई। रमेश लाठियों के प्रहार से बचता हुआ फुर्ती के साथ भीड़ से बाहर निकला और तिरंगा हाथ में थामे न्यायालय की ओर तेज़ी से दौड़ा। पुलिस दल ने उसका पीछा करते हुए गोलियों की बौछार कर दी। रमेश दत्त के प्राण पखेरू वहीं उड़ गए। न्यायालय पर तिरंगा फहराने के प्रयास में उसने अपनी क़ुर्बानी दे दी।

अगले दिन 13 अगस्त को गोलीकांड के विरोध में अब्दुल मजीद ने छात्रों के एक जुलूस का नेतृत्व किया। इस जुलूस में धीरे-धीरे नगर के अन्य लोग भी शामिल होते चले गए। पुलिस अधिकारी ने जुलूस को रोकते हुए चेतावनी दी–

"तुरन्त यहाँ से भाग जाओ, वरना गोलियों से भून दिए जाओगे।"

जुलूस को पुलिस ने घेर लिया। तभी अब्दुल मजीद ने ऊँची आवाज़ में पुलिस को ललकारा, "पुलिस की बर्बरता की मुख़ालफ़त करने से हमें कोई नहीं रोक सकता। मौत भी नहीं! ये बन्दूकें जन-क्रान्ति को न रोक पाई हैं और न रोक पाएँगी। वास्तव में बन्दूक़ों की गोलियों का धुआँ ही तो क्रान्ति की मशाल को तेज़ लपटों में बदलता है। अतः बन्दूक़ों के डर से क्रान्ति का सैलाब रुकने वाला नहीं है।"

पुलिस ने जुलूस का मार्ग रोक लिया था। अतः जुलूस उसी स्थान पर जलसे में परिवर्तित हो गया। इलाहाबाद के शाहगंज में झा एण्ड कम्पनी में दवाओं के विक्रेता मुरारी मोहन भट्टाचार्य भी जलसे में शामिल थे। उनसे चुप न बैठा गया। उन्होंने पुलिस के अत्याचारों की चर्चा करते हुए कहा,

"पटना सचिवालय पर तिरंगा फहराने के प्रयास में पुलिस ने सात छात्रों की हत्या कर दी। कल इसी शहर में विश्वविद्यालय के छात्र पद्मधर सिंह लाल और तेरह वर्षीय रमेश दत्त मालवीय को गोलियों का निशाना बनाया गया। आख़िर आप कब तक सहते रहोगे इन निर्मम अत्याचारों को। पुलिस की ज़्यादतियाँ सीमा पार कर चुकी हैं। अब यह सब बन्द होना चाहिए।"

अब्दुल मजीद से चुप नहीं बैठा गया। वह जोश में आकर चिल्लाने लगा-

"बन्द होना चाहिए!"

"बन्द होना चाहिए!"

तभी जनता ने बुलन्द आवाज़ में नारे लगाने आरम्भ कर दिए।

"भारत माता की जय!"

"महात्मा गाँधी की जय"

वन्दे .....

वन्देमातरम् का नारा पूरा होने से पूर्व ही दनादन गोलियाँ बरस पड़ीं। जलसे में कोहराम मच गया। गोलियाँ चलती रहीं। लोग घायल होकर ज़मीन पर गिरते रहे। उनके हाथ से तिरंगे ध्वज को पीछे वाले थामते रहे। वर्षों से गाते आ रहे गीत 'इसकी शान न जाने पाए, चाहे जान भले ही जाए' की पंक्तियों को आज देशभक्तों ने सार्थक करके दिखा दिया था।

इस गोलीकांड में अब्दुल मजीद ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। अब्दुल मजीद सब्ज़ी मंडी, इलाहाबाद का रहने वाला था। हीवेट रोड निवासी छात्र द्वारका प्रसाद भी तिरंगा हाथ में थामे शहीद हो गया। इन छात्रों के अतिरिक्त मुरारी मोहन भट्टाचार्य, भगवती प्रसाद आदि वयस्क लोगों ने भी मातृवेदी पर इसी दिन अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। सैकड़ों घायलों को अस्पताल पहुँचाया गया। इलाहाबाद की गलियों में आज भी इन वीर बलिदानी बालकों और हुतात्माओं की क़ुर्बानी के गीत गाए जाते हैं। ❑

*(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'शहीद बच्चों की गौरव गाथा' से)*



AUGUST_2023 Folder.indd 49 7/28/2023 1:36:19 PM

# छोटी-छोटी संगीत गोष्ठियों का दौर

**दिल्ली की युवा और प्रखर गायिका संघमित्रा चक्रवर्ती ने राग बागेश्री की प्रभावशाली अवतारणा की। झप ताल मध्य लय में- 'विनती सुनो मेरी' और फिर द्रुत तीन ताल में अब बेगुन पर करम करो दाता, से संघमित्रा ने बागेश्री को पूरी तरह साकार कर दिया। संघमित्रा का गायन अत्यंत सरस रहा।**



**पं. विजयशंकर मिश्र**

*ई-मेल : anhad.sam@gmail.com*

बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों में संगीत-नृत्य को सुनने और देखने का अपना एक अलग आनंद है, जहाँ संगीत और नृत्य के जगमगाते सितारों की प्रस्तुतियाँ होती हैं, लेकिन मध्यमवर्गीय संघर्षरत संगीतकारों, नृत्यकारों की कला से अगर सुपरिचित होना है तो छोटी-छोटी संगीत गोष्ठियों में जाना पड़ेगा जहाँ ये साधनारत संगीतकार अपनी प्रतिभा का परिचय देते हैं। गर्मी की छुट्टियों में इस लेखक को ऐसे कई संगीतकारों से परिचित होने का सुअवसर मिला। यहाँ प्रस्तुत है साधनारत संगीतकारों की कुछ प्रस्तुतियों की एक झलक।

● रुद्र संगीत विद्यालय द्वारा आयोजित संगीत गोष्ठी में बाल कलाकार तौषानी रावत के गायन, युवा तबला वादक गुरनाम सिंह के सुन्दर तबलावादन और युवा कत्थक नृत्यांगनाओं- वर्षा प्रसाद, चन्द्रकला नेगी तथा शुभी उनियाल के कत्थक नृत्य ने अच्छी सम्भावनाओं का परिचय दिया। ये सभी रुद्र संगीत विद्यालय के प्रतिभाशाली शिष्य हैं। इसके बाद हैदराबाद से पधारीं वरिष्ठ गायिका मालविका भट्टाचार्य ने अपना प्रभावशाली गायन राग सूर मल्हार में प्रस्तुत किया। धीमे त्रिताल में 'बरसन लागी कारी बदरिया' और द्रुत तीन ताल में 'बादरवा बरसन को आए' की उन्होंने शानदार प्रस्तुति दी। राग को शुरू करने का सिलसिला, सुरों का क्रमवार विकास, राग की विधिवत् बढ़त, आलाप की गहराई तथा तानों की तैयारी ने उनकी अनथक साधना का परिचय दिया। उनके गायन ने लोगों को सुर माधुर्य से रससिक्त कर दिया। उनके साथ तबले पर प्रभाकर पाण्डे की, हारमोनियम पर राजेश मिश्रा की और सारंगी पर अकरम हुसैन की संगति अत्यंत सूझ-बूझ युक्त और प्रशंसनीय रही। इसके बाद दिल्ली की युवा और प्रखर गायिका संघमित्रा चक्रवर्ती ने राग बागेश्री की प्रभावशाली अवतारणा की। झप ताल मध्य लय में, 'विनती सुनो मेरी' और फिर द्रुत तीन ताल में 'अब बेगुन पर करम करो दाता' से संघमित्रा ने बागेश्री को पूरी तरह साकार कर दिया। संघमित्रा का गायन अत्यंत सरस रहा। संघमित्रा की गायकी में पटियाला घराना पूरी तरह से उभरता है। उनके साथ तबले पर मनोज श्रीवास्तव और सारंगी पर अकरम हुसैन की संगति अत्यंत प्रभावशाली रही। इस शाम इन दोनों संगीतकारों को रुद्र संगीत सम्मान से भी सम्मानित किया गया।



*विकास झा*

● श्री अरबिंदो आश्रम ने दिल्ली स्थित अपने ध्यान केन्द्र में युवा और उदीयमान गायक विकास झा का कार्यक्रम आयोजित किया। विकास ने राग मारू बिहाग की सुन्दर प्रस्तुति दी। विकास उभरते हुए प्रतिभावान गायक हैं, और उनके गायन में उनकी उज्ज्वल प्रतिभा झलकती है। त्रिताल मध्य लय में 'रहो मोरे जिया' की बढ़त करते हुए उन्होंने कई बार लोगों की प्रशंसा



AUGUST_2023 Folder.indd 50 7/28/2023 1:36:19 PM

प्राप्त की। राग की बढ़त, आलाप और तान सभी जगहों पर उन्होंने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया। साफ़-सुथरी सरस गायकी है उनकी। उनके साथ तबले पर दिवाकर शर्मा और हारमोनियम पर गिरधर शर्मा की संगति भी अत्यंत सराहनीय रही।



*समद्रिता गुहा चौधरी*

● संगीत संस्था आसावरी द्वारा गुरुग्राम में आयोजित संगीत गोष्ठी में दो कलाकारों को सर्वथा पहली बार सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। रत्ना लाहिड़ी ने अपने सितार वादन में सर्वप्रथम राग मधुवंती में विलंबित और द्रुत गतें प्रस्तुत कीं। उसके बाद पण्डित रविशंकर द्वारा सर्जित राग तिलक श्याम में एक भावपूर्ण धुन बजाई उन्होंने। राग तिलक श्याम- तिलक कामोद और श्याम कल्याण का सुन्दर सम्मिश्रण है। सुरीला वादन था रत्ना लाहिड़ी का। इनके साथ युवा तबला-वादक रंजीव विश्वास ने सुन्दर और सहयोगपूर्ण संगति करके सितारवादन को और भी प्रभावशाली बना दिया। इसके अगले चरण में युवा और प्रतिभावान गायिका समद्रिता गुहा चौधरी का आकर्षक गायन सम्पन्न हुआ। इन्होंने राग मारू बिहाग की प्रभावशाली अवतारणा की। इनके तानों में मेरूखण्ड के अंदाज़ की झलक मिलती है। द्रुत बन्दिश 'आली रे अलबेली' कैराना घराने की महत्वपूर्ण बन्दिश है जिसे समद्रिता ने अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया। समद्रिता ने अपने भावपूर्ण गायन का भावपूर्ण समापन पं. ज्ञान प्रकाश घोष द्वारा भैरवी में निबद्ध एक भावपूर्ण भजन 'तू आ जाना रे भगवान' से किया। इनके साथ तबले पर प्रदीप सरकार और हारमोनियम पर कौशिक मित्रा की संगति अत्यंत आकर्षक थी। कार्यक्रम का संचालन अलका मानकानी ने किया।

● चंडीगढ़ की प्रसिद्ध संस्था प्राचीन कला केन्द्र आज अपनी विश्वव्यापी पहचान बना चुकी है। सन् 1956 में एम.एल. कौसर के अथक प्रयासों से स्थापित इस संस्था का उद्घाटन पंजाब के तत्कालीन



*देवोज्योति चक्रवर्ती और अभिजीत आइच*

राज्यपाल और मुख्यमन्त्री ने किया था। प्राचीन कला केन्द्र का मुख्यालय तो चंडीगढ़ में है लेकिन यह संस्था पूरे देश में सांगीतिक कार्यक्रमों और विभिन्न स्तरीय परीक्षाओं का आयोजन करती है। पिछले दिनों इसका एक कार्यक्रम दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में सम्पन्न हुआ जिसमें युवा गायक उज्ज्वल नागर एवं नर्तकी सुलग्ना राय तथा उनके शिष्यों और साथियों का गायन और नर्तन सम्पन्न हुआ। उज्ज्वल नागर ने इस शाम राग जोग कौंस की सुव्यवस्थित अवतारणा की। विलंबित एकताल में पारम्परिक बन्दिश 'ऐ घर बलमा' तथा द्रुत त्रिताल में भी लोकप्रिय बन्दिश 'पीर पराई का असरदार गायन किया। अलग-अलग जगहों से तानें लेकर मुखड़े और सम पर आने का अंदाज़ लगभग हर बार प्रशंसित हुआ। अपने कार्यक्रम का समापन उन्होंने बनारस घराने के गायनाचार्य पण्डित बड़े रामदास द्वारा रचित और पण्डित राजन-साजन मिश्र द्वारा गाई गई एक ताल की बन्दिश- 'जगत है सपना' के सुन्दर गायन से किया। इनके साथ तबले पर बलराम सिसोदिया और हारमोनियम पर ललित सिसोदिया ने बहुत अच्छी संगति की। इसके बाद कत्थक नृत्यांगना सुलग्ना राय और उनकी संस्था 'स्पंदन' के छात्र-छात्राओं ने गायन और नृत्य की प्रस्तुति की। सुलग्ना ने ख़ुद भी धमार और त्रिताल में कथक नृत्य की सुन्दर प्रस्तुति की। उनके साथ नृत्य सहयोग पर संजीव कुमार, तबले पर अखिलेश भट्ट, सितार पर लावण्य कुमार और पढ़ंत पर दामिनी विष्ट थीं। कार्यक्रम का संचालन प्रतिमा वर्मा ने किया और सम्मान तथा आभार प्रदर्शन सजल कौसर ने।

● बाबा अलाउद्दीन ख़ान म्यूज़िक फ़ाउंडेशन संगीतकारों द्वारा संगीतकारों के लिए कार्य करने वाली एक ऐसी संस्था है जो विगत 20 वर्षों से भी अधिक समय से साधनारत संगीतकारों को लगातार मंच प्रदान करने के साथ-साथ उन्हें उस्ताद अलाउद्दीन ख़ान सम्मान और पण्डित ज्योतिन भट्टाचार्य सम्मान से सम्मानित करती है। पिछले दिनों चितरंजन सभागार के सहयोग से इस संस्था ने पण्डित ज्योतिन भट्टाचार्यजी की 1997 जन्म वर्ष के उपलक्ष्य में एक सादगी भरे सुन्दर कार्यक्रम का आयोजन किया। शुभारम्भ संगीत नायक पण्डित दरगाही मिश्र संगीत



अकादमी के प्रतिभावान छात्र-छात्राओं द्वारा प्रस्तुत सुमधुर गुरु वंदना एवं सरस्वती वंदना से हुआ, जिसे पण्डित गीतेश मिश्र के निर्देशन में पूनम रानी भारद्वाज, पुनीत बत्रा, अमित कुमार, अन्विता सिंह, डैरिस सुनील भाटिया, मधुरम चौबे, आकार बत्रा, विधि जैन और द्रव्य जैन ने आकर्षक अंदाज़ में प्रस्तुत किया। हारमोनियम पर इनके गुरु पण्डित गीतेश मिश्र स्वयं उपस्थित थे जबकि तबले पर पं. स्वरूप चौबे थे। इसके बाद प्रख्यात सितार वादक देबोज्योति चक्रवर्ती ने उस्ताद अलाउद्दीन खान द्वारा रचित एक मधुर राग हेम बिहार का अत्यंत प्रभावशाली वादन किया। देबोज्योति ने क्रमशः विलंबित त्रिताल, द्रुत एकताल और फिर द्रुत त्रिताल में अपने गतों की अत्यंत प्रभावशाली प्रस्तुति की। मींड़ का काम अत्यंत आकर्षक है 4 और 5 स्वरों की मींड़ लेकर उन्होंने साबित कर दिया कि वे शौकिया सितार नहीं बजाते हैं। इनके साथ तबले पर वरिष्ठ तबला-वादक सुप्रसिद्ध पं अभिजीत आईच की संगति भी काफ़ी प्रभावशाली और टक्कर की थी। कार्यक्रम का संचालन प्रतिमा गांगुली ने किया जबकि अतिथियों का स्वागत और आभार प्रदर्शन पण्डित और अरूप रत्न मुखर्जी तथा श्री अरूप गांगुली ने। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 51 7/28/2023 1:36:20 PM

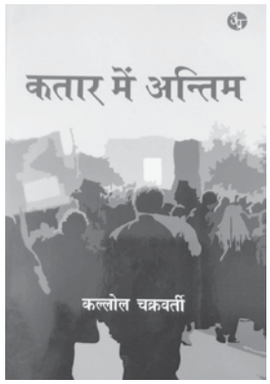
# सामाजिक सरोकार की कविताएँ

**पिता के रेलवे में होने और पढ़ाई तथा नौकरी के सिलसिले में कल्लोल चक्रवर्ती को कुर्सेला, कटिहार, भागलपुर और दिल्ली में रहना पड़ा है। ये सभी स्थान उनकी स्मृतियों में इस तरह बसे हुए हैं कि वे कभी अचानक कुर्सेला जाकर अपने बचपन के साथियों से मिल आना चाहते हैं तो कभी भागलपुर के चक्कर लगा आना चाहते हैं।**



**संजीव ठाकुर**

*ई-मेल : skthakur67@gmail.com*




'कतार में अंतिम' कल्लोल चक्रवर्ती का पहला कविता-संग्रह है। दार्शनिक शब्दावली और अमूर्तता का वितान खड़ी करने वाली कविताओं से अलग सहजता से आम आदमी की बात करने वाली कविताओं का संग्रह है। इसमें जहाँ कतार में खड़े अंतिम व्यक्ति की चिन्ता करती कविताएँ हैं, वहीं सुनील गावस्कर, तस्लीमा नसरीन, सेरेना विलियम्स जैसे चर्चित व्यक्तियों की ख़ूबियों पर बात करती कविताएँ भी। माँ, पिता, बहन, पत्नी, नानी जैसे पारिवारिक लोग कल्लोल चक्रवर्ती की कविता के दायरे में आए हैं, तो मेधा ठाकुर और सुरेश झा 'निराला' जैसे अज्ञात लोग भी। रामगंज, कुर्सेला, कटिहार, भागलपुर जैसे स्थान अपने गुण-दोष के साथ इन कविताओं में उपस्थित हैं साथ पत्रकारिता-जगत का कच्चा-चिट्ठा भी यहाँ खुलता नज़र आ जाता है। दादाजी, नानी, पिता और मेधा ठाकुर के बहाने पूर्वी बंगाल (बांग्लादेश) की स्मृतियाँ भी कई कविताओं का कथ्य बनी हैं। इनके अलावा कोरोना-काल पर भी कुछ कविताएँ इस संग्रह में हैं जिनसे कोरोना-काल की भयावह स्थिति का पता चलता है।

इस संग्रह को पढ़कर पता चलता है कि कवि के दादाजी पूर्वी बंगाल से चलकर बिहार आ गए थे और विभाजन की वजह से फिर अपने गाँव नहीं जा पाए थे। दादाजी को इस बात का गहरा दुख था। यह दुख कल्लोल चक्रवर्ती के पिता में भी संचरित हो गया था और कहीं-न-कहीं कल्लोल चक्रवर्ती में भी। इसीलिए यह दुख बार-बार कल्लोल की कविताओं में दिखाई देता है। मेधा ठाकुर पर लिखी कविता को पढ़ते हुए यह दुख कुछ और गाढ़ा होकर पाठकों के सामने उपस्थित हो जाता है। अपना वतन न छोड़ने की ज़िद और आख़िरकार बांग्लादेश में ही मेधा ठाकुर की हत्या बहुत दुखदाई प्रसंग है।

पिता के रेलवे में होने और पढ़ाई तथा नौकरी के सिलसिले में कल्लोल चक्रवर्ती को कुर्सेला, कटिहार, भागलपुर और दिल्ली में रहना पड़ा है। ये सभी स्थान उनकी स्मृतियों में इस तरह बसे हुए हैं कि वे कभी अचानक कुर्सेला जाकर अपने बचपन के साथियों से मिल आना चाहते हैं तो कभी भागलपुर के चक्कर लगा आना चाहते हैं। कुर्सेला का मालगोदाम, फ़ुटबॉल का मैदान, गुहा डॉक्टर, सब कुछ उन्हें याद है। इसी तरह भागलपुर की सड़कें, भागलपुर स्थित महत्वपूर्ण बांग्ला लेखकों के घर, भागलपुर के मुहल्ले, कॉलेज, लॉज, ढाबा, पुस्तकालय के साथ-साथ भागलपुर में होने वाली गुंडागर्दी और रंगबाज़ी भी उनकी स्मृतियों में दर्ज हैं। कुर्सेला, भागलपुर, कटिहार, कुराशिया और रायगंज के अलावा स्थान-विशेष पर लिखी कविता 'पाकिस्तान' विशेष रूप से हमारा ध्यान खींचती है। यह कविता पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की एकता को रेखांकित करने का काम करती है। हिन्दुस्तान के लोगों के अंदर 'जहालत, कट्टरता,



AUGUST_2023 Folder.indd 52 7/28/2023 1:36:20 PM

नफ़रत और ग़ैरबराबरी के / न जाने कितने पाकिस्तान' बनते देख कल्लोल कहते हैं-

'हमें पता भी नहीं चला
कि पाकिस्तान से नफ़रत करते हुए
हम ख़ुद भी जाने-अनजाने पाकिस्तान बनते जा रहे थे।'

(पृ. 144)

इस संग्रह में व्यक्तियों पर लिखी कई कविताएँ हैं। 'सुनील गावस्कर' और 'सेलेना विलियम्स' कविताएँ इन खिलाड़ियों के खेल की विशेषता को रेखांकित करती हैं। 'शारदा सिन्हा' कविता लोक गायिका शारदा सिन्हा की गायकी की विशेषता बतलाती है। 'तस्लीमा नसरीन' विस्थापित बांग्लादेशी लेखिका तस्लीमा नसरीन की जद्दोजहद को सामने लाती है। 'हिन्दी का कवि' चर्चित कवि मंगलेश डबराल की स्मृति में लिखी गई कविता है तो 'गीत फ़रोश' कविता गीत लिखकर उन्हें गा-गाकर ट्रेन पर बेचने वाले अज्ञात कुल कवि सुरेश झा 'निराला' के संघर्ष पर। पारिवारिक लोगों पर लिखी कल्लोल चक्रवर्ती की कविताएँ 'माँ', 'पिता', 'नानी', 'बहनें' और 'पत्नी' पारिवारिक स्मृतियों में बँधी होकर भी पाठकों को अपने परिवार के लोगों की याद दिला सकती हैं। इसी सिलसिले की कविता 'बेटी को पहली बार साड़ी में देखकर' पढ़कर कोई भी पिता भावुक हो सकता है 'क्योंकि इसी परिधान में कभी विदा होगी उसकी बेटी।' (पृ. 66)

कल्लोल चक्रवर्ती पेशे से पत्रकार हैं। उन्होंने क़रीब से चौथे खम्भे को दरकते देखा है। इस बात की अभिव्यक्ति उन्होंने 'चौथा खम्भा' और 'चौथा खम्भा दरक रहा है' कविताओं में की है। कोरोना महामारी की भयावहता और उस समय प्रवासी मज़दूरों की स्थिति पर भी कई कविताएँ इस संग्रह में हैं। इसी तरह किसान आंदोलन पर भी इनकी कविताएँ अपने कथ्य को अच्छी तरह अभिव्यक्त करती हैं।

इस संग्रह में सबसे अधिक कविताएँ आम आदमी पर हैं। आम आदमी का संघर्ष इन कविताओं में ख़ूब दिखाई देता है। चाहे 'महानंदा एक्सप्रेस' में ठुसकर बिहार से दिल्ली आते मज़दूर हों, चाहे दिल्ली में विभिन्न कार्य स्थलों से हाड़तोड़ मेहनत कर निकले 'रूट की आख़िरी बस' पकड़ने की जद्दोजहद करते लोग, 'फूल बेचने वाले' लोग हों या 'जूते' ख़रीदने को तरसते लोग- इस समाज की 'कतार में अंतिम' लोग ही तो हैं! ये कैसी-कैसी तकलीफ़ें झेलकर अपना जीवन गुज़ारते हैं इसे 'उनका घर', 'एक आवारा लड़के की कविता', 'बचपन', 'जिसको पानी नहीं मिला है', 'भात' आदि कविताओं को पढ़कर जाना जा सकता है।

'निवेदन' और 'कामना' जैसी रवीन्द्र शैली की कविताओं को छोड़कर इस संग्रह की ज़्यादातर कविताएँ सामाजिक सरोकार की कविताएँ हैं। इनसे आम आदमी के प्रति कल्लोल चक्रवर्ती की पक्षधरता का पता चलता है। बिम्बों, प्रतीकों का उलझाव न होने के कारण ये कविताएँ आसानी से पाठकों से जुड़ाव स्थापित कर सकती हैं। ❑

*(कृति : 'कतार में अंतिम' (कविता-संग्रह) ; कवि : कल्लोल चक्रवर्ती ; प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-110032 ; पृष्ठ : 144 ; मूल्य : 175 रुपये)*

# मैं चली...

पृष्ठ 43 से आगे

में असुरक्षा को जन्म दिया जिस कारण शारदा सिने जगत की ओछी राजनीति के चक्रव्यूह में फँस गईं। साठ के दशक के उत्तरार्ध और सत्तर के पूर्वार्ध में 'दीवाना' (1967), 'मेरा नाम जोकर' (1970) तथा कई अन्य फ़िल्मों में उनके गीत रिकार्ड होने के पश्चात् भी उसे फ़िल्म में सम्मिलित न किए जाने से शारदा के गायन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा जिसने एक वृहद सम्भावना के फलने-फूलने को बाधित कर दिया। शारदा की इस बात के लिए प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने इसे एक चुनौती के रूप में लिया तथा अपने भीतर की प्रतिभा को संगीतकार बनकर एक नूतन दिशा दे डाली। 'मैला आँचल', 'माँ बहन और बीवी', 'क्षितिज', 'मन्दिर-मस्जिद', 'तू मेरी मैं तेरा' जैसी फ़िल्मों में संगीतकार के रूप में उन्होंने अपनी एक पृथक छवि बनाई। शारदा के संगीत में मुकेश, किशोर कुमार, मोहम्मद रफ़ी जैसे तब के शीर्ष गायकों ने गीत गाए हैं।

आगे के वर्षों में शारदा ने अपने संगीत और स्वर में ग़ालिब की ग़ज़लों का एक एल्बम भी निकाला साथ ही भजनों तथा बाल गीतों का भी एक संग्रह अपने ही संगीत में' निकाला जिसने उन्हें सुगम संगीत के क्षेत्र में भी एक पहचान दिलाई। शारदा गायन के क्षेत्र में उभरती नूतन प्रतिभाओं के मार्गदर्शन के लिए संगीत के शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु अपने ज्ञान एवं अनुभव पर आधारित एक कार्यशाला का भी नियमित रूप से आयोजन करती रही थीं। देश-विदेश में गायन कार्यक्रमों के साथ ही वे निधन के पूर्व गत वर्ष तक संगीत की पाठशाला भी लेती रहीं। 'दूरदर्शन' के लिए वे बच्चों पर केन्द्रित अपनी एक परियोजना को मूर्त रूप देने में जुटी थीं पर असमय उनके निधन से यह सब अधर में ही रह गया।

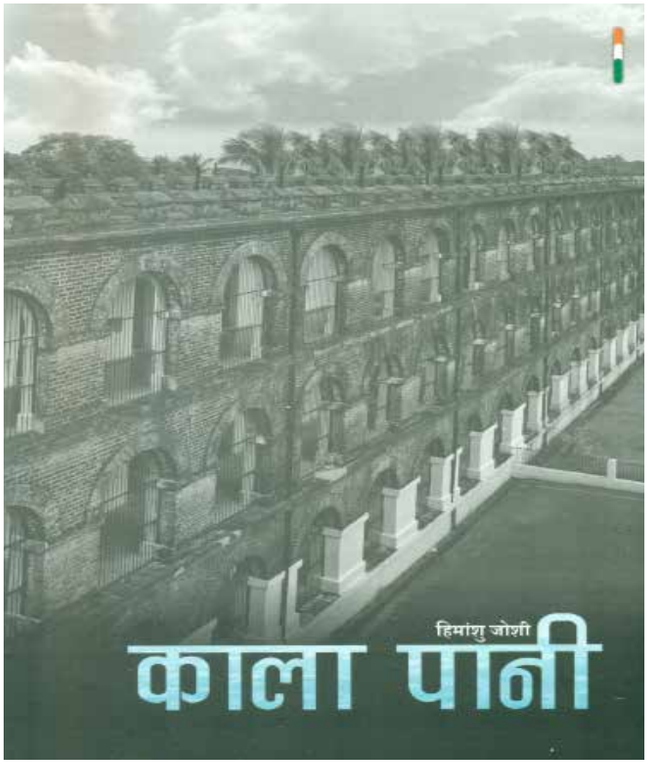
शारदा अपने जीवन और सिनेमाई अनुभव को लेकर एक पुस्तक भी लिख रही थीं जिसे वो पूर्ण भी कर चुकी थीं। इस पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन की सभी को आशा है। शारदा के संग्रह में शंकर-जयकिशन की ढेरों अप्रदर्शित धुनें, स्वर लिपियाँ तथा कई दुर्लभ सामग्री हैं जिसे वे भारत सरकार के 'राष्ट्रीय फ़िल्म संग्रहालय' में देने का मन बना रही थीं जिसे अब उनके निधन के पश्चात् उनके पुत्र शम्मी राजन से सम्पर्क करके फ़िल्म संग्रहालय हस्तगत कर सकती है। शारदा जीवन के ढेरों उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए एक जुझारू स्त्री बन चुकी थीं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारतीय संगीत के साथ-साथ सामाजिक सेवा कार्यों में समर्पित कर रखा था। इस वर्ष के प्रारम्भ में जब उन्हें कैंसर होने की पुष्टि हुई तो वो तनिक भी विचलित नहीं थीं। उनका मस्तिष्क तब भी अपनी भावी योजनाओं को क्रियान्वित करने में जुटा हुआ था। जीवन के अन्तिम माह में वो दुर्बल और अशक्त हो चुकी थीं तथा साँस लेने में भी उन्हें कठिनाई होने लगी थी पर वो पुनः स्वस्थ हो कर अपने कार्य में लग जाने के प्रति आशावान थीं।

वर्तमान तमिलनाडु प्रान्त के अएँगर परिवार में 25 अक्तूबर 1937 में जन्मी शारदा मुम्बई में 14 जून 2023 को प्रातः साढ़े दस बजे अपनी इस लोक की लीला समाप्त करके अंततः उस आकाश को प्रस्थान कर गयीं जिसकी घोषणा उन्होंने अपने पहले ही कालजयी गीत में कर दिया था- 'तितली उड़ी उड़ जो चली, फूल ने कहा आजा मेरे पास, तितली कहे मैं चली आकाश'। ❑



AUGUST_2023 Folder.indd 53 7/28/2023 1:36:20 PM

# काला पानी




**प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003**

पुस्तक : काला पानी
लेखक : हिमांशु जोशी
पृष्ठ : 70
मूल्य : 105 रुपये

काला पानी की सज़ा को भयावह दुःस्वप्न के रूप में देखा जाता है। वहाँ क़ैदियों को दी जाने वाली यातनाओं का विवरण रोंगटे खड़े कर देता है। अँग्रेज़ों ने भारत की मुख्य भूमि से सैंकड़ों मील दूर अंडमानद्वीप में सेलुलर जेल बनाई। अनेक स्वतन्त्रता सेनानियों को वहाँ घोर अमानवीय यातनाएँ दी गईं। इस पुस्तक में इन यातनाओं का मार्मिक वर्णन किया गया है। पुस्तक के लेखक जाने-माने कथाकार हैं।

'काला पानी' का सांस्कृतिक भाव 'काल' से बना है जिसका अर्थ 'समय' या 'मृत्यु' होता है। 'काला पानी' शब्द का अर्थ मृत्यु के उस स्थान से है जहाँ से कोई भी वापस नहीं आता है। इस जेल में 15X8 फ़ीट की कुल 698 कोठरियाँ थीं। सभी कोठरियों में तीन मीटर की ऊँचाई पर रोशनदान बनाए गए थे ताकि क़ैदी एक-दूसरे से बात न कर सकें। ऐसे में क़ैदी बिल्कुल अकेले पड़ जाते थे और ये अकेलापन उनके लिए मौत से भी भयानक होता था।

वर्षों तक सभी क़ैदी बाहर ही रहते थे, घास-फूस की झोपड़ियों में किन्तु बाद में एक पक्की जेल बनाई गई जो 1905 में पूरी हुई। इस जेल का नाम रखा गया- सेल्युलर जेल। हर क़ैदी को प्रतिदिन नौ घंटे कठोर काम करना अनिवार्य था। हर क़ैदी को वर्ष में एक ही पत्र मिलता था और केवल एक ही पत्र इस अवधि में उसे भेजने की अनुमति थी। यदि अधिकारी चाहते तो इस सुविधा से भी उन्हें वंचित कर सकते थे। भोजन के नाम पर जो भी मिलता, उन्हें सब खाना पड़ता। कई बार भोजन करते समय सब्ज़ी में केंचुल के टुकड़े मिलते तो कभी-कभी साँप की बोटियाँ भी।

हमारे देश में समय-समय पर ऐसे वीर सपूत अवतरित हुए, जिनकी गौरव गाथाएँ हमारे इतिहास का शृंगार बन गई हैं। आज़ादी की लड़ाई के परवाने कुछ ऐसे भी हैं, जिनके नाम शायद हमारे मानस पटल पर नहीं हैं। निष्काम भाव से त्याग करने वाले ऐसे कितने ही सेनानी हैं, जिन्होंने यातनाओं पर यातनाएँ सहते हुए देश को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिए निःस्वार्थ भाव से अपने प्राणों तक की आहुति दे डाली। ऐसे नींव के सशक्त पत्थरों पर ही राष्ट्र का भव्य भवन खड़ा है। सचमुच ऐसे वीरों का त्याग और बलिदान ही सच्चा त्याग है, जिनकी अमर कहानी 'काला पानी' की दीवारें आज भी कह रही हैं। उन वीरों को, अपने परिवार से बिछुड़कर, अँग्रेज़ी शासन में कैसी-कैसी घोर यातनाएँ सहन करनी पड़ीं, उन्हें पढ़-पढ़कर रोम-रोम सिहर उठता है। जो गाथाएँ एवं जो महान चरित्र हमारे प्रेरणा-स्रोत हैं, उन्हें आज सारा देश नमन करता है। सुपरिचित लेखक हिमांशु जोशी ने 'काला पानी' शीर्षक से अपनी इस पुस्तक में भारत-माता के ऐसे वीर सपूतों- जिसमें वीर सावरकर, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, शचीन्द्रनाथ सान्याल, भाई परमानन्द, उपेन्द्रनाथ बनर्जी, ज्योतिषचन्द्र घोष, उल्हासकर दत्त, बाबा भानसिंह, वारीन्द्र कुमार घोष, पृथ्वीसिंह आज़ाद, नानी गोपाल, गोविन्द चरण जैसे गुमनाम क्रान्तिकारियों की अदम्य, साहसिक और देशभक्तिपूर्ण गाथाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

सेल्युलर जेल में आने वालों में अंतिम व्यक्ति थे- नेताजी सुभाष चन्द्र बोस। वह बंदियों के रूप में नहीं, बल्कि एक स्वाधीन नागरिक, एक मुक्त योद्धा और एक विजेता सेनापति के रूप में इस द्वीप में आए। उन्होंने काला पानी के द्वीपों में तिरंगा फहराकर सेल्युलर जेल के द्वार हमेशा के लिए खोल दिए।

वास्तव में ये काले द्वीप में धधकते अंगारे थे, जिसकी ऐसी गौरव गाथाएँ हमारे इतिहास के पृष्ठों में सदा दैदीप्यमान रहेंगी।

यहीं पाओगे महशर में ज़बाँ मेरी, बयाँ मेरा।
मैं बन्दा हिन्द वालों का हूँ, है हिन्दोस्ताँ मेरा।। ❑

-प्रस्तुति : **ममता रानी**



AUGUST_2023 Folder.indd 54 7/28/2023 1:36:20 PM

# हमारी पत्रिकाएं

| [illegible] | [illegible] | | [illegible] | |
|---|---|---|---|---|
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| 1 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |

AUGUST_2023 Folder.indd 59 7/28/2023 1:36:22 PM

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) – 05/3222/2021–23 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)–49/2021–23
Magazine Post Regn. No. DL (DS)- 42/ एम.पी– 2022–23–24 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Licenced U (DN) - 49/2021-23 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57
● 10 जुलाई 2023 को प्रकाशित ● 21–22 जुलाई 2023 को डाक द्वारा जारी ● वार्षिक मूल्य : ₹ 230



सुप्रसिद्ध कवि-गीतकार शैलेन्द्र
(30 अगस्त, 1923 - 14 दिसम्बर, 1966)
शताब्दी वर्ष

प्रकाशक व मुद्रक : अनुपमा भटनागर, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, ग़ाज़ियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003 से प्रकाशित। सम्पादक : फरहत परवीन

AUGUST_2023 Folder.indd 56 7/28/2023 1:36:21 PM